अथ द्वितीयोऽध्यायः

[प्रथममाह्निकम्]

अत ऊर्ध्वं प्रमाणादिपरीक्षा। सा च 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः' (१.१.४१) इत्यग्रे विमर्श एव परीक्ष्यते—

संशयपरीक्षाप्रकरणम् [१-७]

[पूर्वपक्षः]

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥

समानस्य धर्मस्याध्यवसात् संशयः, न धर्ममात्रात्।

अथ वा-'समानमनयोर्धर्ममुपलभे' इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति।

अथ वा-समानधर्माध्यवसायादर्थान्तरभूते धर्मिणि संशयोऽनुपपन्नः, न जातु रूपस्यार्थान्तरभूतस्याध्यवसायादर्थान्तरभूते स्पर्शे संशय इति।

अथ वा-नाध्यवसायादर्थावधारणादनवधारणज्ञानं संशय उपपद्यते, कार्यकारणयोः सारूंप्याभावादिति।

एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति व्याख्यातम्। अन्यतरधर्माध्यवसायाच्च संशयो न भवति, ततो ह्यन्यतरावधारणमेवेति ॥ १ ॥

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

न प्रतिपत्तिमात्रादव्यवस्थामात्राद्वा संशयः, किं तर्हि? विप्रतिपत्तिमुपलभमानस्य

द्वितीय अध्याय

[प्रथम आह्निक]

अब आगे प्रमाणादि की लक्षणानुसार परीक्षा की जायगी। उस परीक्षा में "संशय करके पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय हो 'निर्णय' कहलाता है" (१.१.४१) इस लक्षण से परीक्षा में संशय का प्रथम स्थान है, अतः सर्वप्रथम संशय पर ही विचार करते हैं—

समान धर्म के अध्यवसाय से, अनेक धर्मों के अध्यवसाय से तथा अन्यतर धर्म के अध्यवसाय से संशय नहीं होता ॥ १ ॥

पूर्वपक्ष—समान धर्म के अध्यवसाय से संशय होता है, धर्ममात्र के अज्ञायमान रहते संशय नहीं होता। अथवा धर्म-धर्मिग्रहण में—'इस दोनों के समान धर्म उपलब्ध हैं' इतने से भी संशय नहीं कहला सकता। अथवा—समान धर्माध्यवसाय से अर्थान्तरभूत धर्मी में संशय नहीं बन सकता; क्योंकि यह कभी नहीं होता कि अर्थान्तरभूत 'रूप' के अध्यवसाय से अर्थान्तरभूत 'स्पर्श' में संशय होने लगे। अथवा—अर्थावधारणात्मक अध्यवसाय से अनवधारणज्ञानरूप संशय नहीं हो सकता; क्योंकि कार्यकारण की सरूपता नहीं मिलती। जैसे अवधारण निश्चय है, संशय ज्ञान है।

इसी तरह 'अनेक धर्मों के अध्यवसाय से' इस वाक्य का व्याख्यान भी समझना चाहिये। अन्तर धर्माध्यवसाय से भी संशय नहीं होता, अपितु उससे अन्यतरावधारण ही होता है ॥ १ ॥

विप्रतिपत्ति-अध्यवसाय या अव्यवस्था-अध्यवसाय से भी संशय नहीं होता ॥ २ ॥

संशयः। एवमव्यवस्थायामपीति। अथ वा—अस्त्यात्मेत्येके, नास्त्यात्मेत्यपरे मन्यन्ते—इत्युपलब्धेः कथं संशयः स्यादिति। तथोपलब्धिरव्यवस्थिता, अनुपलब्धिश्चाव्यवस्थितेति विभागेनाध्यवसिते संशयो नोपपद्यत इति ॥ २ ॥

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

यां च विप्रतिपत्तिं भवान् संशयहेतुं मन्यते, सा सम्प्रतिपत्तिः। सा हि द्वयोः प्रत्यनीक-धर्मविषया। तत्र यदि विप्रतिपत्तेः संशयः, सम्प्रतिपत्तेरेव संशय इति ॥ ३ ॥

अव्यवस्थात्मनि व्यस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥

न संशयः। यदि तावदियमव्यवस्था आत्मनि एव व्यवस्थिता ? व्यवस्थानादव्यवस्था न भवतीत्यनुपपन्नः संशयः। अथ अव्यवस्थाऽऽत्मनि न व्यवस्थिता ? एवमतादाम्यादव्यवस्था न भवतीति संशयाभाव इति ॥ ४ ॥

तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥

येन कल्पेन भवान् समानधर्मोपपत्तेः संशय इति मन्यते, तेन खल्वत्यन्तसंशयः प्रसज्यते, समानधर्मोपपत्तेरनुच्छेदात् संशयानुच्छेदः। न ह्ययमतद्धर्मा धर्मी विमृश्यमाणो गृह्यते, सततं तु तद्धर्मा भवतीति ॥ ५ ॥

अप्रतिपत्ति या अव्यवस्था के अध्यावसायमात्र से संशय नहीं होता, अपितु विप्रतिपत्ति समझने वाले को संशय होता है। इसी तरह अव्यवस्था में समझें।

अथवा 'आत्मा है'—यह एक मानते हैं, 'आत्मा नहीं है' यह दूसरे; यह उपलब्धि है तो इतने से संशय कैसे होगी ? तथा जब उपलब्धि भी अव्यवस्थित है, अनुपलब्धि भी अव्यवस्थित है तब इस विभाग से अध्यवसित विषय के बारे में संशय कैसे कहला सकता है ? ॥ २ ॥

विरुद्धकोटिद्वयज्ञान में भी सम्प्रतिपत्ति (निर्णय) के कारण संशय नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

जिसको आप विप्रतिपत्ति ('आत्मा है, आत्मा नहीं है'—ऐसा विरुद्धकोटिद्वयज्ञान) कहते हैं वह तो वस्तुतः सम्प्रतिपत्ति ही है; क्योंकि वह दो सम्प्रतिपत्तिविरुद्ध धर्मों को विषय करती हुई अपने अपने विषय में निर्णय ही कराती है। वैसे स्थल में यदि आप विप्रतिपत्ति के कारण संशय बतला रहे हैं तो वह सम्प्रतिपत्ति से ही संशय बतला रहे हैं ॥ ३ ॥

उपलब्ध्यव्यवस्था तथा अनुपलब्ध्यव्यवस्था से होनेवाला संशय भी उक्त अव्यवस्थाओं के व्यवस्थित (निश्चित) होने से ॥ ४ ॥

संशय नहीं कहला सकता। यदि यह अव्यवस्था (सत्ता या असत्ता) अपने में अवस्थित है तो यह भी एक प्रकार की व्यवस्था ही है, इसे 'अव्यवस्था' कहकर संशयोपपादन नहीं कर सकते। और यदि यह अव्यवस्था अपने स्वरूप में व्यवस्थित नहीं है तो उसका अपने साथ तादात्म्य न होने से उनमें वह अव्यवस्था घट नहीं सकेगी, तब भी अव्यवस्था के कारण संशय कहाँ होगा ? ॥ ४ ॥

यों तो फिर सदा सर्वत्र संशय होने लगेगा; क्योंकि समानधर्मोपपत्ति तो संशय का कारण सदैव हो सकती है ॥ ५ ॥

जिस नय से आप 'असमानधर्मोपत्ति से संशय होता है'—ऐसा मानते हैं उस नय में सदा ही संशय होता रहेगा; क्योंकि समानधर्मोपपत्ति समाप्त नहीं होगी और संशय का नैरन्तर्य भी चालू रहेगा। यह निश्चित है कि तद्धर्माभाववान् धर्मी तो कभी विमर्श का विषय नहीं बन सकेगा; क्योंकि तद्धर्म तो उसमें निरन्तर रहेगा ही। [यों इन पाँच सूत्रों से पाँच प्रकार के संशय के लक्षणों पर पूर्वपक्षी ने आपत्ति की है।] ॥ ५ ॥

[सिद्धान्तपक्षः]

अस्य प्रतिषेधप्रपञ्चस्य संक्षेपेणोद्धारः—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥

संशयानुत्पत्तिः संशयानुच्छेदश्च न प्रसज्यते। कथम्? यत्तावत् समानधर्माध्यवसायः संशयहेतुः, न समानधर्ममात्रमिति। एवमेतत्, कस्मादेवं नोच्यते इति? 'विशेषापेक्षः' इति वचनात् तत्सिद्धेः। विशेषस्यापेक्षा=आकाङ्क्षा, सा चानुपलभ्यमाने विशेषे समर्था। न चोक्तम्—समानधर्मापेक्ष इति। समाने च धर्मे कथमाकाङ्क्षा न भवेद्, यद्ययं प्रत्यक्षः स्यात्। एतेन सामर्थ्येन विज्ञायते—समानधर्माध्यवसायादिति।

उपपत्तिवचनाद्वा। समानधर्मोपपत्तेरित्युच्यते, न चान्या सद्भावसंवेदनादृते समानधर्मोपपत्तिरस्ति। अनुपलभ्यमानसद्भावो हि समानो धर्मोऽविद्यमानवद्भवतीति।

विषयशब्देन वा विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानम्। यथा लोके 'धूमेनाग्निरनुमीयते', इत्युक्ते 'धूमदर्शनेनाग्निरनुमीयते' इति ज्ञायते। कथम्? दृष्ट्वा हि धूममथाग्निमनुमिनोति, नादृष्टे। न च वाक्ये दर्शनशब्दः श्रूयते, अनुजानाति च वाक्यस्यार्थप्रत्यायकत्वम्, तेन मन्यामहे—विषयशब्देन विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानं बोद्धाऽनुजानाति। एवमिहापि समानधर्मशब्देन समानधर्माध्यवसायमाहेति।

सिद्धान्तपक्ष—इस विस्तृत आपत्ति (प्रतिषेध) का संक्षेप से उद्धार (निराकरण) किया जा रहा है—

यथोक्त (१.१.२३) समानधर्मादि के अध्यवसाय (ज्ञान) से ही उन उन पदार्थों के भेदक धर्म के ज्ञान की अपेक्षा से संशयोत्पत्ति मानने पर पूर्वोक्त असंशय या सदैव संशय नहीं होगा ॥ ६ ॥

पूर्वपक्षी द्वारा कथित संशय के अभाव, तथा संशय का अनुच्छेद (संशयनैरन्तर्य)—दोनों का ही प्रसङ्ग नहीं है; क्योंकि हमने समानधर्माध्यवसाय को संशय का हेतु कहा था, न कि समानधर्ममात्र को। ठीक है, फिर लक्षण में भी ऐसा ही क्यों नहीं पढ़ देते? विभेदक धर्म की आवश्यकता के बोधक 'विशेषापेक्ष' शब्द से ही समानधर्माध्यवसाय का बोध होता है। यहाँ विशेष (विभेदक) की अपेक्षा अर्थात् आकांक्षा यह 'विशेषापेक्ष' का अर्थ है। यह आकांक्षा विभेदक के अनुपलब्ध होने पर ही हो सकती है। अतएव 'समानधर्मापेक्ष' हमने नहीं कहा; क्योंकि समान धर्म होने मात्र से आकांक्षा कैसे नहीं होगी? यदि यह प्रत्यक्ष हो। अतः समानधर्माध्यवसाय सामर्थ्यसिद्ध है।

'उपपत्ति' वचन से भी पूर्वपक्षी की आपत्ति निराकृत हो सकती है। समानधर्म की उपपत्ति से—ऐसा कहा गया है, क्योंकि सद्भावसंवेदन (स्वसत्ताक ज्ञान) के अतिरिक्त अन्य समानधर्मोपपत्ति क्या होगी! अनुपलभ्यमान सत्ता वाले समानधर्म को तो न रहने के समान ही समझा जाता है।

अथवा—विषयवाचक (समानधर्म) शब्द से विषयिणी प्रतीति का ज्ञान भी कहा जाता है। जैसे—लोक में 'धूम से अग्नि का अनुमान होता है', ऐसा कहने पर 'धूमदर्शन' से अग्नि का अनुमान कर सकता है, विना देखे नहीं। प्रयुक्त वाक्य में 'दर्शन' शब्द नहीं है, फिर भी वाक्य ने अर्थ का ज्ञान करा दिया—आप भी ऐसा मानते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि 'विषयवाचक शब्द से विषयी प्रत्यय का ज्ञान होता है'। इसी प्रकार उक्त वाक्य में इसी नय से 'समानधर्म' शब्द से 'समानधर्माध्यवसाय' कहा गया है।

यथोहित्वा—'समानमनयोर्धर्ममुपलभे' इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति? पूर्वदृष्टविषयमेतत्। 'यावहमर्थौ पूर्वमद्राक्षं तयोः समानं धर्ममुपलभे, विशेषं नोपलभे इति, कथं नु विशेषं पश्येयं येनान्यतरमवधारयेयम्' इति। न चैतत् समानधर्मोपलब्धौ धर्मधर्मिग्रहणमात्रेण निवर्तत इति।

यच्चोक्तम्—'नार्थान्तराध्यवसायादन्यत्र संशयः' इति? यो ह्यर्थान्तराध्यवसायमात्रं संशयहेतुमुपाददीत स एवं वाच्य इति।

यत्पुनरेतत्—'कार्यकारणयोः सारूप्याभावात्' इति? कारणस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ कार्यकारणयोः सारूप्यम्। यस्योत्पादाद् यदुत्पद्यते, यस्य चानुत्पादाद्यन्नोत्पद्यते तत्कारणम्, कार्यमितरदित्येतत्सारूप्यम्। अस्ति च संशयकारणे संशये चैतदिति।[१]

एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति प्रतिषेधः परिहृत इति।

यत्पुनरेतदुक्तम्—'विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च न संशयः' इति? 'पृथक्प्रवादयोर्व्याहतमर्थमुपलभे विशेषं च न जानामि नोपलभे येनान्यतरमवधारयेयम्, तत्कोऽत्र विशेषः स्याद्येनैकतरमवधारयेयम्'-इति संशयो विप्रतिपत्तिजनितः, अयं न शक्यो विप्रतिपत्तिसम्प्रतिपत्तिमात्रेण निवर्तयितुमिति।

और जैसा कि पूर्वपक्षी ने तर्क कर कहा था—'इन दोनों के समान धर्मों को मैं पा रहा हूँ' ऐसे धर्म-धर्मी के ज्ञान में संशय नहीं होता, क्योंकि यह पूर्वदृष्ट है; जैसे 'मैंने जिन दो (धर्म-धर्मी) को पहले देखा था, उनको वैसे देख रहा हूँ, परन्तु दोनों का विशेष (विभेदक) नहीं जान पा रहा हूँ, कैसे इनका विभेदक जानूँ कि इनमें से किसी एक की सत्ता का निश्चय कर सकूँ' यह विशेषाकांक्षा समानधर्म की उपलब्धि होने पर धर्म-धर्मी के ज्ञान मात्र से दूर नहीं हो सकती, उस दशा में संशय तो होगा ही।

यह जो कहा—'अर्थान्तर रूप के संशयहेतु से स्पर्श में संशय नहीं हो सकता', तो जो अर्थान्तरज्ञानमात्र को संशयहेतु समझ रहा है, उससे ऐसा कहिये।

पुनः यह जो कहा—'कार्य तथा कारण का सादृश्य न होने से संशय नहीं हो सकता', इसका उत्तर यह है कि कारण के होने या न होने पर कार्य का होना या न होना ही कार्यकारण का सादृश्य है। जिसके उत्पन्न होने से जो उत्पन्न होता हो तथा जिसके उत्पन्न न होने से जो उत्पन्न न होता तो वह कारण है, शेष दूसरा कार्य है। यही सादृश्य है। यह सादृश्य संशय के कारण में तथा स्वयं संशय में रहता ही है।

इसी युक्ति से पूर्वपक्षी ने अनेकधर्माध्यवसायवान् कह कर जो प्रतिषेध किया था, उसका भी खण्डन हो जाता है।

और यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था—'विप्रतिपत्ति और अध्यवसाय से संशय नहीं हो सकता', उसका उत्तर यह है—"'आत्मा है' तथा 'आत्मा नहीं है'—इन दो प्रवादों (मतों) में विरुद्ध धर्मों को पा रहा हूँ, विशेष को नहीं जान पा रहा हूँ, न मुझे मिल ही रहा है कि जिससे किसी एक के बारे में निश्चय कर सकूँ"—यह संशय विप्रतिपत्तिजनित है, विप्रतिपत्ति या संप्रतिपत्तिमात्र कहने से वह दूर नहीं हटाया जा सकता।

---

१. वार्त्तिककारस्तु सारूप्यान्तरमाह—विशेषानवधारणं सारूप्यमिति।

एवमुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थाकृते संशये वेदितव्यमिति।

यत्पुनरेतत्—'विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः' इति? विप्रतिपत्तिशब्दस्य योऽर्थस्तदध्यवसायो विशेषापेक्षः संशयः, तस्य च समाख्यान्तरेण न निवृत्तिः। समानेऽधिकरणे व्याहतार्थौ प्रवादौ विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः, तदध्यवसायश्च विशेषापेक्षः संशयहेतुः। न चास्य सम्प्रतिपत्तिशब्दे समाख्यान्तरे योज्यमाने संशयहेतुत्वं निवर्तते। तदिदमकृतबुद्धिसम्मोहनमिति!

यत्पुनः 'अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः' इति? संशयहेतोरर्थस्याप्रतिषेधादव्यवस्थाभ्यनुज्ञानाच्च निमित्तान्तरेण शब्दान्तरकल्पना। व्यर्था शब्दान्तरकल्पना, अव्यवस्था खलु व्यवस्था न भवति; अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वादिति। नानयोरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः सदसद्विषयत्वं विशेषापेक्षं संशयहेतुर्न भवतीति प्रतिषिध्यते, यावता चाव्यवस्थाऽऽत्मनि व्यवस्थिता न तावताऽऽत्मानं जहाति, तावता ह्यनुज्ञाताऽव्यस्था। एवमियं क्रियमाणापि शब्दान्तरकल्पना नार्थान्तरं साधयतीति।

यत्पुनरेतत्—'तथाऽत्यन्तसंशयः तद्धर्मसातत्योपपत्तेः' इति? नायं समानधर्मादिभ्य एव संशयः, किं तर्हि? तद्विषयाध्यवसायाद् विशेषस्मृतिसहितादित्यतो नात्यन्तसंशय इति।

इसी नय से 'उपलब्ध्यव्यवस्थाध्यवसायोपपन्न' संशय के विषय में भी पूर्वपक्षी का खण्डन समझ लेना चाहिये।

पूर्वपक्षी ने यह जो 'विप्रतिपत्ति में संप्रतिपत्ति' (२.१.३)—इस सूत्र में 'विप्रतिपत्ति के कारण उसके सम्प्रतिपत्ति होने से यदि विप्रतिपत्ति से भी संशय माना जायगा तो यह संप्रतिपत्ति से ही संशय मानना होगा' कहा था? उसका उत्तर है—'विप्रतिपत्ति' इस शब्द का जो अर्थ है वह उसका विशेषधर्म के ज्ञान की अपेक्षा रखता हुआ संशय का हेतु है, उसका 'संप्रतिपत्ति' यह दूसरा नाम कर देने से संशय की निवृत्ति थोड़े हो जायगी! समान अधिकरण में विरुद्ध अर्थ वाले दो मत ('आत्मा है', 'आत्मा नहीं है') 'विप्रतिपत्ति' कहलाते हैं, उनका ज्ञान विशेषधर्म (ज्ञान) की अपेक्षा रखने से संशय का कारण बनता है। इसी 'सम्प्रतिपत्ति' यह अन्य संज्ञा कर देने से संशय की निवृत्ति कैसे हो जायेगी! इस तरह तो मूर्खों को बहकाया जा सकता है!

यह जो कहा था—'अव्यवस्था अपने स्वरूप में व्यवस्थित होने के कारण अव्यवस्थोपलब्धि से संशय नहीं हो सकता'? इसका उत्तर है—पूर्वपक्षी द्वारा संशय के हेतुभूत अव्यवस्थारूप अर्थ का प्रतिषेध न करने से तथा अव्यवस्था के स्वीकार करने से अन्य निमित्त को लेकर शब्दान्तर की कल्पना की जा रही है, परन्तु यह शब्दान्तरकल्पना व्यर्थ ही होगी; क्योंकि तब भी अव्यवस्था व्यवस्था नहीं बन सकेगी। वह तो 'अव्यवस्था' इस स्वरूपार्थ में ही व्यवस्थित है, नाम भले ही उसका कुछ रख लें। उन दोनों अव्यवस्थाओं का सत् तथा असत् विषयों में होना विशेषधर्म (के ज्ञान) की अपेक्षा रखता हुआ संशय का कारण होता है—इसलिये ही उनका प्रतिषेध नहीं किया जा रहा है; अपितु अव्यवस्थास्वरूप में व्यवस्थित रहने के कारण वे अपना अव्यवस्थात्व नहीं छोड़ पातीं। इस रूप में पूर्वपक्षी ने भी उनको 'अव्यवस्था' माना है। इसलिये इसकी शब्दान्तरकल्पना से भी अर्थान्तर की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

यह जो कहा था—'उस धर्म की निरन्तरोपपत्ति से सदा संशय होने लगेगा'? इसका उत्तर यह है—केवल समानधर्मादिकों के रहने से ही संशय नहीं होता, अपितु विशेष धर्मों के स्मृतिसहित तद्विषयक अध्यवसाय से होता है, अतः आत्यन्तिक संशय की उपपत्ति नहीं बनेगी।

अन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशय इति? तन्न युक्तम्; 'विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः' इति (१.१.२३) वचनात्। विशेषश्चान्यतरधर्मः, न तस्मिन्नध्यवसीयमाने विशेषापेक्षा सम्भवतीति॥ ६॥

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः॥ ७॥

यत्र यत्र संशयपूर्विका परीक्षा शास्त्रे कथायां वा, तत्र तत्रैवं संशये परेण प्रतिषिद्धे समाधिर्वाच्य इति।

अतः सर्वपरीक्षाव्यापित्वात् प्रथमं संशयः परीक्षित इति॥ ७॥

प्रमाणसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् [८-२०]

अथ प्रमाणपरीक्षा।

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः?॥ ८॥

प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वं नास्ति, त्रैकाल्यासिद्धेः। पूर्वापरसहभावानुपपत्तेरित्यर्थः॥ ८॥

अस्य सामान्यवचनस्यार्थविभागः—

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षोत्पत्तिः?॥ ९॥

गन्धादिविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तद्यदि पूर्वम्, पश्चाद् गन्धादीनां सिद्धिः? नेदं गन्धादिसन्निकर्षादुत्पद्यत इति॥ ९॥

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था—'किसी एक के धर्माध्यवसाय से संशय नहीं होता'? यह भी युक्त नहीं; हम "विशेष धर्म (के ज्ञान) की अपेक्षा रखनेवाला विमर्श 'संशय' होता है" (१.१.२३) ऐसा कह आये हैं। विशेष का तात्पर्य है दो में अन्यतर धर्म, उसका निश्चय होने पर विशेषापेक्षा नहीं होती॥ ६॥

जहाँ (जिस प्रमाणादि की परीक्षा में) संशय हो वहाँ (वैसी परीक्षा में) इसी तरह उत्तरोत्तर प्रयोजनादि में परीक्षा-प्रसङ्ग करना चाहिये॥ ७॥

जहाँ जहाँ, शास्त्र या कथा में, संशयपूर्वक परीक्षा का अवसर आये वहाँ वहाँ इस तरह संशय होने पर प्रतिवादी द्वारा खण्डन करने पर उत्तर देना चाहिये।

अतः कथाङ्ग होने, तथा सभी प्रमाणादि पदार्थों की परीक्षा में व्यापक होने के कारण सर्वप्रथम संशय की परीक्षा की गयी है॥ ७॥

अब **प्रमाण की परीक्षा** की जा रही है—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द में प्रामाण्य नहीं बन सकता; क्योंकि प्रमेय पदार्थ की त्रिकाल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) में भी सिद्धि नहीं हो पाती॥ ८॥

प्रत्यक्षादिकों में प्रमाणत्व नहीं घटेगा; क्योंकि उनके प्रमेय की त्रिकाल में सिद्धि नहीं हो सकती; यतः पूर्वोत्तरसामानाधिकरण्य अनुपपन्न होता है॥ ८॥

पूर्वपक्षी के इस सामान्य वचन का अर्थ यों समझें—

प्रमेय से पूर्वकाल में प्रमाण की सिद्धि मानें तो 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है'—यह सिद्धान्ती का प्रत्यक्ष-लक्षण नहीं बनेगा॥ ९॥

गन्धादिविषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, वह यदि गन्धादि से पूर्वकाल में उत्पन्न होगा तो उस समय गन्धादि के न रहने से वहाँ सन्निकर्ष किसका बनेगा? सन्निकर्ष न बनने से प्रत्यक्ष किसका होगा?॥ ९॥

पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ?॥ १० ॥

असति प्रमाणे, केन प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयः स्यात्? प्रमाणेन खलु प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमित्येतत्सिध्यति ॥ १० ॥

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥ ११ ॥

यदि प्रमाणं प्रमेयं च युगपद्भवतः, एवमपि गन्धादिष्विन्द्रियार्थेषु ज्ञानानि प्रत्यर्थनियतानि युगपत्सम्भवन्तीति ज्ञानानां प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावः। या इमा बुद्धयः क्रमेणार्थेषु वर्त्तन्ते तासां क्रमवृत्तित्वं न सम्भवतीति। व्याघातश्च 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१.१.१६) इति। एतावाँश्च प्रमाणप्रमेययोः सद्भावविषयः, स चानुपपन्न इति। तस्मात् प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वं न सम्भवतीति।

अस्य समाधिः—उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभागवचनम्। क्वचिदुपलब्धिहेतुः पूर्वम्, पश्चादुपलब्धिविषयः, यथा—आदित्यस्य प्रकाश उत्पद्यमानानाम्। क्वचित् पूर्वमुपलब्धिविषयः, पश्चादुपलब्धिहेतुः, यथा—अवस्थितानां प्रदीपः। क्वचिदुपलब्धिहेतुरुपलब्धिविषयश्च सह भवतः, यथा—धूमेनाग्नेर्ग्रहणमिति। उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्, प्रमेयं तूपलब्धिविषयः। एवं प्रमाणप्रमेययोः पूर्वापरसहभावेऽनियते यथा अर्थो दृश्यते, तथा विभज्य वचनीय इति। तत्रैकान्तेन प्रतिषेधानुपपत्तिः। सामान्येन खल्वविभज्य प्रतिषेध उक्त इति।

गन्धादि प्रमेय के अपर (पश्चात्) काल में इस प्रत्यक्ष की सिद्धि मानें तो 'प्रमाणों से प्रमेयसिद्धि' यह सिद्धान्त खण्डित हो जायगा ॥ १० ॥

गन्धादि प्रमेय के समय प्रमाण के न रहने पर प्रमेय किससे प्रमित होगा? प्रमाण के आश्रय ही प्रमीयमाण अर्थ प्रमेय सिद्ध होता है ॥ १० ॥

यदि उक्त प्रमाण-प्रमेय की एक काल में सिद्धि मानी जाय तो ज्ञान के प्रत्यर्थनियत होने से उसकी क्रमवृत्ति न हो पायगी ॥ ११ ॥

यदि प्रमाण तथा प्रमेय की युगपद् सम्भूति मानें तो गन्धादि इन्द्रियार्थों में प्रत्यर्थनियत ज्ञान की भी युगपत् उत्पत्ति माननी पड़ेगी, परन्तु ज्ञान के प्रत्यर्थनियत होने से उसमें क्रमवृत्तित्व कैसे आयगा! तात्पर्य यह है कि जो बुद्धियाँ क्रमशः अर्थ का अवगाहन करती हैं उनका क्रमवृत्तित्व सम्भव नहीं है। और 'युगपज्ज्ञानानुत्पाद ही मन का इन्द्रियत्वसाधक हेतु है' (१.१.१६) इस मन के लक्षण का भी विरोध होने लगेगा। प्रमाणप्रमेय में अस्तित्व यही विषय है, और यही अनुपपन्न होने लगेगा! अतः प्रत्यक्षादि में प्रमाणत्व सम्भव नहीं—ऐसा पूर्वपक्षी का मत है।

समाधान—शास्त्र में उपलब्धि-हेतु और उपलभ्यमान अर्थ का पूर्वकाल या उत्तरकाल में या एक साथ होना—यह नियम न देखा जाने के कारण दर्शनानुसार ही विभाग कहा गया है। कहीं उपलब्धि-हेतु पहले रहता है, उपलब्धि-विषय बाद में, जैसे—उत्पन्न होने वाले पदार्थों के पूर्व सूर्य का प्रकाश। कहीं उपलब्धि-विषय पहले रहता है, उपलब्धि-हेतु बाद में, जैसे—पहले से उपस्थित पदार्थों के लिए दीपक। कहीं उपलब्धि-हेतु तथा उपलब्धि-विषय एक साथ रहते हैं, जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान। उपलब्धि-हेतु है प्रमाण तथा उपलब्धि-विषय है प्रमेय। इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय का पूर्वापरसहभाव नियत न होने के कारण, अर्थ जैसा देखा जाता है उसी तरह विभाग कर कह दिया

समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात् तथाभूता समाख्या[1]। यत्पुनरिदम्—'पश्चात् सिद्धावसति प्रमाणे प्रमेयं न सिध्यति, प्रमाणेन खलु प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमिति विज्ञायते' (२.१.१०) इति? प्रमाणमित्येतस्याः समाख्याया उपलब्धिहेतुत्वं निमित्तम्, तस्य त्रैकाल्ययोगः। उपलब्धिमकार्षीत्, उपलब्धिं करोति, उपलब्धिं करिष्यतीति समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात् समाख्या तथाभूता। प्रमितोऽनेनार्थः, प्रमीयते, प्रमास्यते इति प्रमाणम्। प्रमितम्, प्रमीयते, प्रमास्यते इति च प्रमेयम्। एवं सति—'भविष्यत्यस्मिन् हेतुत उपलब्धिः', 'प्रमास्यतेऽयमर्थः', 'प्रमेयमिदम्'—इत्येतत् सर्वं भवतीति।

त्रैकाल्यानभ्यनुज्ञाने च व्यवहारानुपपत्तिः। यश्चैवं नाभ्यनुजानीयात् तस्य 'पाचकमानय पक्ष्यति', 'लावकमानय लविष्यति' इति व्यवहारो नोपपद्यत इति।

'प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः' (२.१.८) इत्येवमादिवाक्यं प्रमाणप्रतिषेधः। तत्रायं प्रष्टव्यः—अथानेन प्रतिषेधेन भवता किं क्रियत इति? किं सम्भवो निवर्त्यते, अथासम्भवो ज्ञाप्यत इति? तद्यदि सम्भवो निवर्त्यते, सति सम्भवे प्रत्यक्षादीनां प्रतिषेधानुपपत्तिः। अथासम्भवो ज्ञाप्यते, प्रमाणलक्षणं प्राप्तस्तर्हि प्रतिषेधः; प्रमाणासम्भवस्योपलब्धिहेतुत्वादिति ॥ ११ ॥

जाता है; अतः यहाँ पूर्वपक्षी द्वारा एक एक का नियम मान कर दिये गये दोष नहीं बन सकते। यों पूर्वपक्षी ने विवेचन न कर सामान्येन जो दोष कहे थे वे उक्त समाधान से निरस्त कर दिये गये।

समाख्या (संज्ञा-शब्दों) के प्रवृत्तिरूप हेतु से जाति, गुण तथा द्रव्य में त्रैकाल्य-सम्बन्ध रहना चाहिये, तब समाख्या भी त्रैकाल्यसम्बन्ध रखती है। यह जो कहा था—'पश्चात्काल में सिद्धि मानने पर उस समय प्रमाण के न रहने से प्रमेय सिद्ध नहीं होगा, जब कि प्रमाण से प्रमीयमाण अर्थ ही प्रमेय कहलाता है'? इसका उत्तर है—'प्रमाण' इस संज्ञा का निमित्त है—'ज्ञान का कारण होना', यह 'ज्ञान का कारण होना' त्रिकालसम्बन्धी है। 'इसने उपलब्धि की', 'यह उपलब्धि कर रहा है', 'यह उपलब्धि करेगा' इस प्रकार से 'प्रमाण' संज्ञा त्रैकाल्यसम्बन्धवाली है। अर्थात् 'इससे प्रमेय जाना गया', 'जाना जाता है', 'जानेगा'—इसलिये यह प्रमाण कहलाता है। प्रमेय भी त्रैकाल्यसम्बन्ध वाला है—'यह जाना गया', 'जाना जाता है' या 'जाना जायगा।' ऐसा त्रैकाल्यसम्बन्ध होने पर—'इसमें हेतु से उपलब्धि हो जायगी', 'यह अर्थ को जानेगा' तथा 'यह जानने योग्य है' यह सब व्यवहार उपपन्न हो जायँगे।

त्रैकाल्य-सम्बन्ध न मानने पर समग्र लोकव्यवहार उच्छिन्न होने लगेगा। जो इस त्रैकाल्यसम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता, उसके लिये 'पाचक लाओ, भोजन पकायगा', 'घास काटनेवाले को लाओ, घास काटेगा'—यह व्यवहार कैसे बनेगा!

पूर्वपक्षी ने यह भी कहा था कि 'त्रिकाल-सम्बन्ध की असिद्धि के कारण प्रत्यक्षादि में प्रामाण्य नहीं बनेगा'? उसके उत्तर में पूर्वपक्षी से यह पूछना चाहिये कि यह प्रतिषेध करके आप क्या करना चाहते हैं? क्या सम्भव की निवृत्ति कर रहे हैं या असम्भव को बतला रहे हैं? यदि सम्भव को निवृत्ति कर रहे हैं तो सम्भव होने पर प्रत्यक्षादि की निवृत्ति कैसी! यदि असम्भव बतला रहे हैं तो असम्भव का ज्ञापन कैसा? क्योंकि आपका उक्त प्रकार का ज्ञापन भी उक्त प्रमाणों के लक्षण को

---

१. केषुचित्पुस्तकेषु वाक्यमिदं सूत्रत्वेनोपन्यस्तम्, परन्तु निकाये तथाऽप्रसिद्धत्वादस्माभिर्न स्वीकृतम्।—स०

किं चातः ?

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥

अस्य तु विभागः। पूर्वं हि प्रतिषेधसिद्धावसति प्रतिषेध्ये किं तेन प्रतिषिध्यते! पश्चात्सिद्धौ प्रतिषेधाभावादिति। युगपत्सिद्धौ प्रतिषेध्यसिद्धयभ्यनुज्ञानादनर्थकः प्रतिषेध इति। प्रतिषेधलक्षणे च वाक्येऽनुपपद्यमाने सिद्धं प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वमिति ॥ १२ ॥

कथम्[१] ?

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥

'त्रैकाल्यासिद्धेः' इत्यस्य हेतोर्यद्युदाहरणमुपादीयते, हेत्वर्थस्य साधकत्वं दृष्टान्ते दर्शयितव्यमिति, न च तर्हि प्रत्यक्षादीनामप्रमाण्यम्। अथ प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यम् ? उपादीयमानमप्युदाहरणं नार्थं साधयिष्यतीति। सोऽयं सर्वप्रमाणैर्व्याहतो हेतुरहेतुः 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' (१.२.६) इति। वाक्यार्थो ह्यस्य सिद्धान्तः। स च वाक्यार्थः—प्रत्यक्षादीनि नार्थं साधयन्तीति। इदं चावयवानामुपादानमर्थस्य साधनायेति। अथ नोपादीयते ? अप्रदर्शित-हेत्वर्थस्य दृष्टान्ते न साधकत्वमिति निषेधो नोपपद्यते; हेतुत्वासिद्धेरिति ॥ १३ ॥

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ १४॥

परिधि में ही आ गया! आपने ही तो कहा था कि प्रत्यक्षादि में प्रमाण का असम्भव उपलब्धि का कारण हैं! ॥ ११ ॥

इससे क्या हुआ ?

त्रैकाल्य की सिद्धि न बनने से पूर्वपक्ष्युक्त प्रतिषेध नहीं बन सकता ॥ १२ ॥

(पूर्वपक्षी को उत्तर देने के लिये) इस सूत्र का वक्ष्यमाण विभागार्थ कर लेना चाहिये। प्रस्तुत प्रमाण की सिद्धि होने पर प्रतिषेध्य के न रहने से वह किसका प्रतिषेध करेगा ? पश्चात् काल में प्रतिषेध्य मानने पर उस समय प्रतिषेध न कर पाने से प्रतिषेध्य की असिद्धि ही रहेगी। युगपत् (एक काल में) सिद्धि मानने पर पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिषेध्य की स्वीकृति दे देने से उसका प्रतिषेध निरर्थक हो जायगा। प्रतिषेधलक्षणार्थक वाक्य के अनुपपन्न होने से प्रत्यक्षादि में प्रमाणत्व रह ही जायगा ॥ १२ ॥

कैसे ?

क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणों का निषेध करने से भी प्रतिषेध नहीं बन सकेगा ॥ १३ ॥

यदि 'त्रैकाल्यासिद्धि' हेतु का उदाहरण देने का प्रयत्न करे तो उसमें हेत्वर्थसाधकत्व दिखाना पड़ेगा। इससे प्रत्यक्षादि का अप्रमाणत्व फिर भी नहीं बनेगा। यदि प्रत्यक्षादि का अप्रमाण्य ही मान लें तो दिया हुआ उदाहरण अर्थ को सिद्ध न कर सकेगा—इसलिये वह हेतु हेतु नहीं होगा। अतः यह 'जिस सिद्धान्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त है उसका विरोध करने वाला विरुद्ध' (१.२.६) हेत्वाभास होगा; क्योंकि 'प्रत्यक्षादि प्रमाण अर्थ की सिद्धि नहीं करते' यह वाक्यार्थ ही पूर्वपक्षी का सिद्धान्त है, और उसके द्वारा यह प्रतिज्ञादि पाँचों अवयवों का ग्रहण भी अर्थसिद्धि के लिये ही करना पड़ता है। यदि इनका ग्रहण न किया जाय तो अप्रदर्शित हेत्वर्थ की दृष्टान्त में साधकता नहीं बनेगी, तब प्रतिषेध भी कैसे हो सकेगा; क्योंकि हेतुत्व ही सिद्ध नहीं हुआ ॥ १३ ॥

अवयवाश्रित प्रत्यक्ष आदि को प्रमाण मानने पर समग्र प्रमाणों का प्रतिषेध सिद्ध न होगा ॥ १४॥

---

१. पदमिदं क्वचित् सूत्रस्यावतरणरूपेण गृहीतम्, क्वचिच्च व्याख्यानरूपेणेत्युभयथापि समञ्जसमेव प्रतिभाति।

प्रतिषेधलक्षणे स्ववाक्ये तेषामवयवाश्रितानां प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्येऽभ्यनुज्ञायमाने परवाक्येऽप्यवयवाश्रितानां प्रामाण्यं प्रसज्यते; अविशेषादिति। एवं च न सर्वाणि प्रमाणानि प्रतिषिध्यन्त इति। विप्रतिषेध इति 'वि' इत्ययमुपसर्गः सम्प्रतिपत्त्यर्थे, न व्याघाते; अर्थाभावादिति ॥ १४ ॥

त्रैकल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥ १५ ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ? पूर्वोक्तनिबन्धनार्थम्। यत्तावत्पूर्वोक्तम्—'उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभागवचनम्' इति, तदितः समुत्थानं यथा विज्ञायेत। अनियमदर्शी खल्वयमृषिर्नियमेन प्रतिषेधं प्रत्याचष्टे।

त्रैकाल्यस्य[१] चायुक्तः प्रतिषेध इति। तत्रैकां विधामुदाहरति—**शब्दादातोद्यसिद्धिवदिति**। यथा पश्चात्सिद्धेन शब्देन पूर्वसिद्धमातोद्यमनुमीयते। साध्यं चातोद्यम्, साधनं च शब्दः, अन्तर्हिते ह्यातोद्ये स्वनतोऽनुमानं भवतीति। 'वीणा वाद्यते', 'वेणुः पूर्यते' इति स्वनविशेषेण आतोद्यविशेषं प्रतिपद्यते। तथा पूर्वसिद्धमुपलब्धिविषयं पश्चात्सिद्धेनोपलब्धिहेतुना प्रतिपद्यते इति।

निदर्शनार्थत्वाच्चास्य, शेषयोर्विधयोर्यथोक्तमुदाहरणं वेदितव्यमिति।

कस्मात् पुनरिह तत्रोच्यते ? पूर्वोक्तमुपपाद्यत इति। सर्वथा तावदयमर्थः प्रकाशयितव्यः—स इह वा प्रकाश्येत, तत्र वा; न कश्चिद्विशेष इति ॥ १५ ॥

प्रतिषेधलक्षणक स्ववाक्य में यदि पूर्वपक्षी उन अवयवों पर आश्रित प्रत्यक्षादि को प्रमाण मानता है तो सिद्धान्ती के वाक्य में अवयवाश्रितत्व समानता के कारण प्रत्यक्षादि को प्रमाण मानना पड़ेगा; इस तरह सब प्रमाण प्रतिषिद्ध कहाँ हुए! 'विप्रतिषेध' शब्द में 'वि' यह उपसर्ग 'समग्र प्रमाणों के निषेध का यथार्थ ज्ञान' का बोधक है, न कि विरोध का; क्योंकि 'विरोध' अर्थ मानने का कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १४ ॥

ध्वनिरूप शब्द से वाद्ययन्त्र की सिद्धि की तरह प्रमाणरूप कारण की सिद्धि होने से प्रमाणों में त्रैकाल्य-प्रतिषेध भी नहीं बनेगा ॥ १५ ॥

यह बात पहले (२.१.११ में) कह ही आये, अब फिर क्यों कही जा रही है ? पहले कही बात को ही पुष्ट करने के लिये। हमने जो पहले यह कहा था कि 'उपलब्धि-हेतु तथा उपलब्धि-विषय अर्थ में पूर्व-अपर काल या सहभाव का नियम न होने के कारण यथादर्शन विभाग कहा गया है' यह बात यहीं से आधार लेकर कही थी। प्रमाण-प्रमेय-नियम न मानने वाले सूत्रकार ने नियम से प्रतिषेधपक्ष का खण्डन किया है।

त्रैकाल्य का प्रतिषेध अयुक्त है, इसमें एक उदाहरण देते हैं—ध्वनिरूप शब्द से वाद्ययन्त्र की सिद्धि की तरह। जैसे पश्चात्काल में सिद्ध ध्वनिरूप शब्द से पूर्वसिद्ध वाद्ययन्त्र की सिद्धि का अनुमान होता है। यहाँ शब्द साधन है, वाद्ययन्त्र साध्य है। अनभिव्यक्त वाद्ययन्त्र का ध्वनि से अनुमान होता है। 'वीणा बज रही है' या 'वंशी बज रही है'—ऐसा हम ध्वनिविशेष सुनकर ही अनुमान करते हैं। इसी प्रकार पूर्वसिद्ध उपलब्धिविषय का पश्चात्सिद्ध उपलब्धिहेतु से ज्ञान होता है।

यह एक उदाहरण दे दिया है। (२.१.११) सूत्र में अवशिष्ट दोनों प्रकारों का भी इसी तरह उदाहरण समझ लेना चाहिये।

---

१. 'त्रैकाल्ये'—इति पाठा०।

प्रमाणं प्रमेयमिति च समाख्या समावेशेन वर्त्तते; समाख्यानिमित्तवशात्। समाख्यानिमित्तं तूपलब्धिसाधनं प्रमाणम्, उपलब्धिविषयश्च प्रमेयमिति। यदा च उपलब्धिविषयः क्वचिदुपलब्धिसाधनं भवति, तदा प्रमाणं प्रमेयमिति चैकोऽर्थोऽभिधीयते। अस्यार्थस्याvद्योतनार्थमिदमुच्यते—

प्रमेया[१] च तुला प्रामाण्यवत्॥ १६॥

गुरुत्वपरिमाणज्ञानसाधनं तुला प्रमाणम्, ज्ञानविषयो गुरुद्रव्यं सुवर्णादि प्रमेयम्। यदा सुवर्णादिना तुल्यान्तरं व्यवस्थाप्यते तदा तुलान्तरप्रतिपत्तौ सुवर्णादि प्रमाणम्, तुल्यान्तरं प्रमेयमिति। एवमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः।

आत्मा तावदुपलब्धिविषयत्वात् प्रमेये परिपठितः उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात् प्रमाता। बुद्धिरुपलब्धिसाधनत्वात्[२] प्रमाणम्। उपलब्धिविषयत्वात् प्रमेयम्। उभयाभावात् तु प्रमितिः। एवमर्थविशेषे समाख्यासमावेशो योज्यः।

तथा च कारकशब्दा निमित्तवशात् समावेशेन वर्तन्त इति। वृक्षस्तिष्ठतीति स्वस्थितौ स्वातन्त्र्यात् कर्ता। वृक्षं पश्यतीति दर्शनेनाप्तुमिष्यमाणतमत्वात् कर्म। वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयतीति ज्ञापकस्य साधकतमत्वात् करणम्। 'वृक्षायोदकमासिञ्चति इति' आसिच्यमानेनोदकेन वृक्षमभिप्रैतीति सम्प्रदानम्। वृक्षात्पर्णं पततीति 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यपादानम्। वृक्षे वयांसि सन्तीति 'आधारोऽधिकरणम्' इत्यधिकरणम्। एवं च सति न द्रव्यमात्रं कारकम्, न क्रियामात्रम्, किं तर्हि? क्रियासाधनं क्रियाविशेषयुक्तं कारकम्। यत्क्रियासाधनं स्वतन्त्रः स कर्ता, न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम्। क्रियया व्याप्तुमिष्यमाणतमं कर्म, न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम्। एवं साधकतमादिष्वपि। एवं च कारकार्थान्वाख्यानं यथैव उपपत्तितः, एवं लक्षणतः कारकान्वाख्यानमपि न द्रव्यमात्रेण न क्रियया वा; किं तर्हि? क्रियासाधने क्रियाविशेषयुक्त इति। कारकशब्दश्चायं प्रमाणं प्रमेयमिति, स च कारकधर्मं न हातुमर्हति॥ १६॥

अस्ति भोः! कारकशब्दानां निमित्तवशात् समावेशः। प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि, उपलब्धिहेतुत्वात्; प्रमेयं चोपलब्धिविषयत्वात्। संवेद्यानि च प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि— प्रत्यक्षेणोपलभे, अनुमानेनोपलभे, उपमानेनोपलभे, आगमेनोपलभे; प्रत्यक्षो मे ज्ञानम्, आनुमानिकं मे ज्ञानम्, औपमानिकं मे ज्ञानम्, आगमिकं मे ज्ञानमिति विशेषा[१] गृह्यन्ते। लक्षणतश्च ज्ञाप्यमानानि ज्ञायन्ते विशेषेण—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' इत्येवमादिना।

सेयमुपलब्धिः प्रत्यक्षादिविषया किं प्रमाणान्तरतः, अथान्तरेण प्रमाणान्तरमसाधनेति?

उन दोनों का भी यहाँ फिर से व्याख्यान क्यों नहीं किया गया? यहाँ पूर्वोक्त बात ही समझायी जा रही है, कोई नयी बात नहीं कही जा रही; फिर उसे यहाँ कह दिया या वहाँ कहते, क्या नयी बात हो जायगी!॥ १५॥

'प्रमाण' तथा 'प्रमेय'—ये संज्ञाएँ संज्ञानिमित्त की स्थिति रहने पर व्यापकतया रहती है। जैसे संज्ञानिमित्त 'प्रमाण' उपलब्धि-साधन है, तथा 'प्रमेय' उपलब्धि-विषय। परन्तु जब उपलब्धि-साधन ही कहीं उपलब्धि-विषय बन जाता है तो उस समय वह प्रमाण 'प्रमेय' भी बन जाता है और दोनों संज्ञाओं में से एक ही अर्थ लिया जाता है। इसी अर्थ को सूत्रकार स्पष्ट करते हैं—

प्रमाणता के समान तुला प्रमेय भी है॥ १६॥

गुरुत्व (भार) तथा परिमाण के ज्ञान का साधन तुला 'प्रमाण' है, ज्ञान के विषय भारवान् द्रव्य सुवर्णादि 'प्रमेय' है। जब उस तुले हुए सुवर्ण आदि से दूसरी चीज का तोल किया जाता है तब वही सुवर्णादि प्रमाण बन जाता है। इस प्रकार यहाँ शास्त्र (सूत्र) का अर्थ सङ्घात (व्यापक) रूप से उपदिष्ट है—ऐसा समझना चाहिये।

उपलब्धि-विषय होने से प्रमेय में पढा गया 'आत्मा' उपलब्धि (ज्ञान) में स्वातन्त्र्य होने के कारण 'प्रमाता' भी कहलाता है, इसी तरह प्रमेयपरिपठित होते हुए भी ज्ञानसाधन होने से 'प्रमाण' है, उपलब्धिविषय होने से 'प्रमेय' है, दोनों ही विषय के साधन जब न हों तब वह 'प्रमिति' है। इस प्रकार अर्थविशेष में संज्ञा का समावेश लगा लेना चाहिये।

इसी तरह कारक शब्द भी व्यवहृत होते हैं। जैसे—'वृक्ष खड़ा है' यहाँ वृक्ष अपनी स्थिति में स्वतन्त्र होने से 'कर्ता' है; परन्तु 'वृक्ष को देखता है'—इस वाक्य में दर्शनक्रिया से ईप्सा का विषय होने के कारण वही 'कर्म' हो गया है। इसी प्रकार 'वृक्ष से चन्द्रमा को दिखाता है' यहाँ ज्ञप्ति का साधन होने से वही वृक्ष 'करण' है। 'वृक्ष को जल सींचता है' इस वाक्य में सींचे जाने वाले जल का वृक्ष अभिप्रेत है अतः वह 'सम्प्रदान' है। 'वृक्ष से पत्ते गिरते हैं' इसमें 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (पा० सू० १.४.२४) इस पाणिनि के नियम से वही वृक्ष 'अपादान' है। 'वृक्ष पर पक्षी बैठे हैं' इस वाक्य में 'आधारोऽधिकरणम्' (पा० सू० ४.१.२५) इस नियम से पक्षियों का आधार बन जाने से वह 'अधिकरण' है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि द्रव्य या क्रिया ही कारक नहीं होते; अपितु क्रिया (व्यापार) का साधन तथा क्रिया (व्यापार) विशेष से युक्त कारक होता है। जो स्वतन्त्र रहता हुआ क्रिया का साधन है वह 'कर्ता' कहलाता है, न कि केवल द्रव्य या केवल क्रिया। इसी तरह क्रिया से ईप्सिततम कारक 'कर्म' कहलाता है, न कि केवल द्रव्य या केवल क्रिया। इसी प्रकार साधकतम (क्रिया का अत्यन्त साधक) 'करण' आदि कारकों के विषय में भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार जैसे कारक के अर्थ का अन्वाख्यान युक्ति से किया गया है उसी तरह कारकों का स्वरूपकथन भी केवल द्रव्य या क्रिया से नहीं; अपितु 'क्रिया (व्यापार) विशेष से युक्त क्रियासाधन'—ऐसा कर लेना चाहिये। यह 'कारक' शब्द प्रमाण भी है, प्रमेय भी है, यह दोनों अवस्थाओं में अपने 'कारकत्व' को नहीं छोड़ता॥ १६॥

शङ्का—हम उक्त रीति से कारकों का निमित्तों के सम्बन्धों से समावेश होना मान लेते हैं। प्रकृत में—प्रत्यक्षादि उपलब्धिहेतु होने से प्रमाण है, उपलब्धिविषय होने से प्रमेय है। ये प्रत्यक्षादि संवेद्य (विभाग से जानने योग्य) भी हैं, क्योंकि 'प्रत्यक्ष से जानता हूँ', 'अनुमान से जानता हूँ', 'उपमान से जानता हूँ', 'शब्द प्रमाण से जानता हूँ'—ऐसा विभक्त ज्ञान प्रमाणरूप से प्रत्यक्षादि का ग्रहण करता है। इसी तरह 'मेरा यह ज्ञान प्रत्यक्ष से हुआ है', 'अनुमान से हुआ है', 'उपमान से हुआ है', 'आगम से हुआ है'—ऐसे भेद से भी ये प्रमाण गृहीत होते हैं। ये प्रत्यक्षादि, लक्षण से जाने जाते हुए 'यह ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य है, अतः प्रत्यक्ष है'—ऐसे अपनी विशेषताओं से पृथक् हैं।

हमारा आशय यह है कि प्रत्यक्षादि का यह उपर्युक्त ज्ञान क्या किसी प्रमाणान्तर से होता है? या किसी प्रमाणान्तर के विना ही असाधन है?

---

१. 'प्रमेयता च' इति पाठा०। शब्दोऽयं तात्पर्यटीकानुसारमत्र स्थापितः।
२. 'बुद्धिरूपोपलब्धिसाधनत्वात्' इति पाठा०।

१. 'ज्ञानविशेषाः' इति पाठा०।

कश्चात्र विशेषः ?

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

यदि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणेनोपलभ्यन्ते ? येन प्रमाणेनोपलभ्यन्ते तत् प्रमाणान्तरमस्तीति प्रमाणान्तरसद्भावः प्रसज्यत इति अनवस्थामाह—तस्याप्यन्येन, तस्याप्यन्येनेति। न चानवस्था शक्याऽनुज्ञातुम्; अनुपपत्तेरिति ॥ १७ ॥

अस्तु तर्हि प्रमाणान्तरमन्तरेण निःसाधनेति ?

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणान्तरसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ? ॥ १८ ॥

यदि प्रत्यक्षाद्युपलब्धौ प्रमाणान्तरं निवर्तते, आत्माद्युपलब्धावपि प्रमाणान्तरं निवर्त्स्यति, अविशेषात् ? ॥ १८ ॥

एवं च सर्वप्रमाणविलोप इत्यत आह—

न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षाङ्गत्वात् दृश्यदर्शने प्रमाणम्, स च प्रत्यक्षान्तरेण चक्षुषः सन्निकर्षेण गृह्यते। प्रदीपभावाभावयोर्दर्शनस्य तथाभावाद् दर्शनहेतुरनुमीयते। 'तमसि प्रदीपमुपाददीथाः' इत्याप्तोपदेशेनापि प्रतिपद्यते। एवं प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनं प्रत्यक्षादिभिरेवोपलब्धिः।

सिद्धान्ती पूछता है—यह ज्ञान तुम्हारे बताये प्रकारों में से किसी भी प्रकार से हो, विशेषता क्या आयगी ? प्रश्नकर्ता उत्तर देता है—

यदि यह ज्ञान अन्य प्रमाण से सिद्ध होता है तो (इनसे भिन्न) प्रमाणान्तर मानना पड़ेगा ? ॥ १७ ॥

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण से उपलब्ध होते हैं तो ये जिस प्रमाण से उपलब्ध होते हों उस प्रमाणान्तर की सत्ता माननी पड़ेगी। इससे अनवस्था यह पैदा होगी कि उस उस ज्ञान के लिये पूर्व पूर्व प्रमाणान्तर की अनन्त कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। प्रायः अयुक्त होने के कारण इस अनवस्था का मानना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

तो दूसरा पक्ष—प्रमाणान्तर के विना ही असाधन है—यह मान लें ? पूर्वपक्षी कहता है—

उक्त प्रत्यक्षादि के ज्ञान में प्रमाणान्तर न मानने पर आत्मादि प्रमेय की सिद्धि में भी प्रमाणान्तर नहीं मानना पड़ेगा ? ॥ १८ ॥

यदि इस प्रत्यक्षादि ज्ञान में प्रमाणान्तर निवृत्त हो जाता है तो प्रमेय (आत्मा आदि) के ज्ञान में भी प्रमाणान्तर मानने की क्या आवश्यकता है; क्योंकि बात दोनों जगह समान है ? ॥ १८ ॥

इस तरह आपका 'सब प्रमाणों का प्रकरण' ही समाप्त हो जायगा ? (इसका सिद्धान्ती उत्तर देते हैं—)

नहीं; प्रदीपप्रकाश की तरह उसकी सिद्धि हो जायगी ॥ १९ ॥

जैसे—दीपक का प्रकाश प्रत्यक्ष का अङ्ग (साधन) होने से दृश्य को दिखाने में प्रमाण है, और वह प्रत्यक्षान्तर—चक्षुःसन्निकर्ष—से गृहीत होता है। तथा 'दीपक के रहते अन्धकार में दृश्य का दिखायी देना, और दीपक के न रहने पर दिखायी न देना-' इस व्यतिरेकव्याप्ति से दीपक में दर्शनहेतुत्व अनुमान प्रमाण से, तथा 'अन्धकार में दीपक का सहारा लेना चाहिये'—इस आप्तोदेश से भी सिद्ध किया जा सकता है! अतः सिद्ध हो गया कि दीपक की तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी दर्शन के अनुसार उन्हीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञान हो जाता है।

इन्द्रियाणि तावत् स्वविषयग्रहणेनैवानुमीयन्ते। अर्थाः प्रत्यक्षतो गृह्यन्ते। इन्द्रियार्थसन्निकर्षास्त्वावरणेन लिङ्गेनानुमीयन्ते। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मसमवायाच्च सुखादिवद् गृह्यते। एवं प्रमाणविशेषो विभज्य वचनीयः। यथा च दृश्यः सन् प्रदीपप्रकाशो दृश्यान्तराणां दर्शनहेतुरिति दृश्यदर्शनव्यवस्थां लभते, एवं प्रमेयं सत्किञ्चिदर्थजातमुपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्थां लभते। सेयं प्रत्यक्षादिभिरेव प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनमुपलब्धिर्न प्रमाणान्तरतः, न च प्रमाणमन्तरेण निःसाधनेति।

तेनैव तस्याग्रहणमिति चेद्? न; अर्थभेदस्य लक्षणसामान्यात्। प्रत्यक्षादीनां प्रत्यक्षादिभिरेव ग्रहणमित्ययुक्तम्, अन्येन ह्यन्यस्य ग्रहणं दृष्टमिति ? न; अर्थभेदस्य लक्षणसामान्यात्। प्रत्यक्षलक्षणेनानेकोऽर्थः सङ्गृहीतः, तत्र केनचित् कस्यचिद् ग्रहणमित्यदोषः। एवमनुमानादिष्वपीति। यथा—उद्धृतेनोदकेनाशयस्थस्य ग्रहणमिति।

ज्ञातृमनसोश्च दर्शनात्। अहं सुखी, अहं दुःखी चेति तेनैव ज्ञात्रा तस्यैव ग्रहणं दृश्यते। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१.१.१६) इति च तेनैव मनसा तस्यैवानुमानं दृश्यते, ज्ञातुर्ज्ञेयस्य चाभेदो ग्रहणस्य ग्राह्यस्य चाभेद इति।

निमित्तभेदोऽत्रेति चेत्? समानम्। न निमित्तान्तरेण विना ज्ञाताऽऽत्मानं जानीते, न च

अतीन्द्रिय इन्द्रियों का स्वविषयग्रहणरूप हेतु से अनुमान होता है, अर्थों का प्रत्यक्ष होता है, इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध आवरण हेतु से अनुमित होता है, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान भी सुखादि ज्ञान की तरह आत्मनःसंयोग, तथा आत्मा के साथ समवाय (सम्बन्ध) से होता है—इस प्रकार प्रमाणविशेष का विभागपूर्वक विवेचन करना चाहिये। और जैसे प्रदीपप्रकाश स्वयं दृश्य होता हुआ दृश्यान्तर का दर्शनहेतु बनकर दृश्य (प्रमेय) दर्शन (प्रमाण) व्यवस्था को प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार आत्मादि (पदार्थ) भी जब स्वयं ज्ञान का विषय होता है तो 'प्रमेय', तथा जब किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान का साधन बन जाता है तो 'प्रमाण' कहलाता है। यों यह प्रत्यक्षादि का ज्ञान प्रत्यक्षादि की उपलब्धि के अनुसार गृहीत हो जाता है, इसके लिये न प्रमाणान्तर की आवश्यकता है, न प्रमाणान्तर के विना यह असाधन ही है।

यदि यह कहें कि उसी (प्रत्यक्ष) से उस (प्रत्यक्ष) का ग्रहण नहीं होगा ? तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि भिन्न भिन्न प्रत्यक्षादि सभी रूप अर्थ प्रत्यक्ष के साधारण लक्षण से गृहीत हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षादि से प्रत्यक्षादि का ग्रहण युक्त नहीं, क्योंकि दूसरा दूसरे को देखता है—ऐसा ही लोक में देखा जाता है ? नहीं, क्योंकि भिन्न भिन्न प्रत्यक्षादि रूप अर्थों में साधारण लक्षण समान है। उस प्रत्यक्ष के लक्षण में अनेक अर्थ संगृहीत हैं, अतः वहाँ किसी से किसी का ग्रहण हो जायगा—अतः कोई दोष नहीं। इसी तरह अनुमानादि के विषय में भी समझना चाहिये; जैसे—जलाशय से उद्धृत जल का अनुमान होता है।

ज्ञाता (आत्मा) तथा मन में अपने से ही अपना ज्ञान होता है। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'—यह उस ज्ञाता द्वारा उसका अपने विषय में ही ज्ञान देखा जाता है। 'युगपद् ज्ञान का अनुत्पाद मन को सत्ता में हेतु है' (१.१.१६) इस लक्षण से उसी मन से उस मन का अनुमान देखा जाता है। आत्मा में ज्ञाता तथा ज्ञेय का, और मन में ग्रहण व ग्राह्य का अभेद ही है, अतः वे स्व से स्व का ज्ञान करने में असमर्थ नहीं होते।

निमित्तान्तरेण विना मनसा मनो गृह्यत इति? समानमेतत्; प्रत्यक्षादिभिः प्रत्यक्षादीनां ग्रहण-मित्यत्राप्यर्थभेदो न गृह्यत इति।

प्रत्यक्षादीनां चाविषयस्यानुपपत्तेः। यदि स्यात् किञ्चिदर्थजातं प्रत्यक्षादीनामविषयः-यत्प्रत्यक्षादिभिर्न शक्यं ग्रहीतुम्, तस्य ग्रहणाय प्रमाणान्तरमुपादीयेत, तत्तु न शक्यं केनचिदु-पपादयितुमिति। प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनमेवेदं सच्चासच्च सर्वं विषय इति॥ १९॥

केचित्तु दृष्टान्तमपरिगृहीतं हेतुना विशेषहेतुमन्तरेण साध्यसाधनायोपाददते-'यथा प्रदीपप्रकाशः प्रदीपान्तरप्रकाशमन्तरेण गृह्यते, तथा प्रमाणानि प्रमाणान्तरेण गृह्यन्ते' इति।

स चायम्—

क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदनेकान्तः[१] ॥ २०॥

यथा चायं प्रसङ्गो निवृत्तिदर्शनात् प्रमाणसाधनायोपादीयते, एवं प्रमेयसाधनायाप्यु-पादेयः; अविशेषहेतुत्वात्। यथा च स्थाल्यादिरूपग्रहणे प्रदीपप्रकाशः प्रमेयसाधनायोपादीयते, एवं प्रमाणसाधनायाप्युपादेयः; विशेषहेत्वभावात्। सोऽयं विशेषहेतुपरिग्रहमन्तरेण दृष्टान्त एकस्मिन् पक्षे उपादेयो न प्रतिपक्ष इत्यनेकान्तः। एकस्मिंश्च पक्षे दृष्टान्त उपादेयो न प्रतिपक्षे दृष्टान्त इत्यनेकान्तः; विशेषहेत्वभावादिति।

यदि कहें कि आत्मा तथा मन में तादृश ज्ञान के लिये एक सहकारिविशेष ग्राह्यग्राहकसम्बन्ध नियामक माना गया है? तो प्रत्यक्षादि में भी बात समान है। तात्पर्य यह है कि यदि पूर्वपक्षी कहे कि दूसरे निमित्त के विना ज्ञाता अपने आप को कैसे जानेगा, या ज्ञानसाधनरूप अन्य निमित्त हुए विना मन स्वयं को कैसे जानेगा? तो यह उचित नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी यह बात समान ही है। 'प्रत्यक्षादिकों से प्रत्यक्षादि का ग्रहण होता है' यहाँ भी पूर्वोक्त रीति से अर्थभेद न होने पर भी अर्थ जाना ही जाता है।

ऐसा भी सम्भव है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को अगोचर विषय की सिद्धि में प्रमाणान्तर की अपेक्षा हो सकती है? नहीं, ऐसा कोई विषय नहीं है जो इन प्रमाणों में से किसी का विषय न हो। अतः, दर्शनानुसारेण सत् हो या असत् वह प्रत्यक्षादि का विषय है ही॥ १९॥

कुछ विद्वान् हेतु से अपरिगृहीत दृष्टान्त को विशेष हेतु के विना साध्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त करते हैं, जैसे—प्रदीपप्रकाश प्रदीपान्तर के विना स्वयं दिखायी दे जाता है, उसी तरह प्रमाण भी प्रमाणान्तर के विना उपलब्ध हो सकते हैं?

वह यह—

कहीं (प्रदीपादि में) निवृत्ति दीखने से, कहीं (पटरूपादि में) निवृत्ति न दीखने से (यह हेतु) अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है॥ २०॥

जैसे प्रदीप के उदाहरण (दृष्टान्त) से प्रमाणान्तर के विना प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि करते हैं उसी प्रकार यह उदाहरण प्रमेय (स्थाली-आदि) की सिद्धि के समय में ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि बात उभयत्र समान है। अथ च, स्थाल्यादि का रूप जानने के लिये जैसे प्रदीपप्रकाश आवश्यक है, उसी प्रकार उन प्रमाणादि को जानने के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता पड़ेगी ही—इस तरह विशेष हेतु के विना ही परिगृहीत 'दृष्टान्त' एक ही पक्ष में उपादेय होता है, प्रतिपक्ष में नहीं—अतः अनैकान्तिक है। अर्थात् प्रमाणान्तर को न मानने में प्रदीपप्रकाश दृष्टान्त को लेना तथा स्थाल्यादि

---

१. क्वचिदिदं सूत्रत्वेन न लिखितम्।

विशेषहेतुपरिग्रहे सति उपसंहाराभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः[१]। विशेषहेतुपरिगृहीतस्तु दृष्टान्त एकस्मिन् पक्षे उपसंह्रियमाणो न शक्योऽननुज्ञातुम्। एवं च सत्यनेकान्त इत्ययं प्रतिषेधो न भवति।

प्रत्यक्षादीनां प्रत्यक्षादिभिरुपलब्धावनवस्थेति चेद्? न; संविद्विषयनिमित्तानामुप-लब्ध्या व्यवहारोपपत्तेः। प्रत्यक्षेणार्थमुपलभे, अनुमानेनार्थमुपलभे, उपमानेनार्थमुपलभे, आगमेनार्थमुपलभे इति, प्रत्यक्षं मे ज्ञानमानुमानिकं मे ज्ञानमौपमानिकं मे ज्ञानमागमिकं मे ज्ञानमिति—संविद्विषयं संविन्निमित्तं चोपलभमानस्य धर्मार्थसुखापवर्गप्रयोजनस्तत्प्रत्यनीक-परिवर्जनप्रयोजनश्च व्यवहार उपपद्यते। सोऽयं तावत्येव निर्वर्तते। न चास्ति व्यवहारान्तरमन-वस्थासाधनीयम्, येन प्रयुक्तोऽनवस्थामुपाददीतेति॥ २०॥

प्रत्यक्षपरीक्षाप्रकरणम् [२१-३७]

प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षा

सामान्येन प्रमाणानि परीक्ष्य विशेषेण परीक्ष्यन्ते। तत्र—

[पूर्वपक्षः]

प्रत्यलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात्॥ २१॥

आत्ममनःसन्निकर्षो हि कारणान्तरं नोक्तमिति।

के रूपप्रकाश के लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता में न लेना—यह इस हेतु में अनैकान्तिक दोष है; क्योंकि एक ही पक्ष का दृष्टान्त लेने में कोई विशेष हेतु नहीं है।

यदि उपर्युक्त दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष का साधक कोई विशेष हेतु स्वीकार किया जाय तो उस पक्ष के दृष्टान्त के बल पर 'उपसंहार' (चतुर्थ अवयव) के स्वीकार होने से प्रतिषेध नहीं बनेगा। तात्पर्य यह है कि विशेषहेतु से परिगृहीत दृष्टान्त एक पक्ष में उपसंहृत होता है तो इसमें आपको क्या आपत्ति है! ऐसा मान लेने से आपका उठाया 'अनैकान्तिक' वाला प्रतिषेध भी नहीं बन सकेगा।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उन्हीं प्रत्यक्षादिकों से सिद्धि मानने से अनवस्था दोष होने लगेगा? नहीं; क्योंकि ज्ञानविषय कारणों की उपलब्धि होने से सम्पूर्ण व्यवहार चलते देखे जाते हैं। 'प्रत्यक्ष द्वारा विषय को जानता हूँ', 'अनुमान द्वारा साध्य को जानता हूँ', 'उपमान से उपमेय को जानता हूँ', 'आगम (शब्द) द्वारा विषय को जानता हूँ'—ऐसा, या 'मेरा ज्ञान प्रत्यक्षक है', 'आनुमानिक है', 'औपमानिक है', 'शाब्द है'—ऐसे ज्ञान, तथा ज्ञानविषय को जानने वाले पुरुष के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिये तथा तद्विरुद्ध को छोड़ने के लिये किये गये समग्र व्यवहार चलते हैं। ये व्यवहार उतने पर आकर अपने व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं। अन्य कोई व्यवहार अवशिष्ट नहीं जिसमें अनवस्था दी जा सके, या जिसके द्वारा अनवस्था का ग्रहण कर सके॥ २०॥

प्रत्यक्षपरीक्षा—प्रमाणों की सामान्यरूप से परीक्षा की जा चुकी, अब विशेषरूप से परीक्षा कर रहे हैं। उनमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष के विषय में विचार करते हैं—

लक्षण पूर्ण विषयविषयक न होने से प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं बनता॥ २१॥

---

१. भाष्यमिदं सूत्रत्वेन क्वचिदुल्लिखितम्। प्रमाणं प्रमाणान्तरनिरपेक्षम्, प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवदिति विशेषहेतुपरिग्रहे सतीत्यर्थः।

न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजन्यस्य गुणस्योत्पत्तिरिति, ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादात्ममनः-सन्निकर्षः कारणम्। मनःसन्निकर्षानपेक्षस्य चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वे युगपदुत्पद्येरन् बुद्धय इति मनःसन्निकर्षोऽपि कारणम्। तदिदं सूत्रं पुरस्तात् कृतभाष्यम्[1] ॥ २१ ॥

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २२ ॥

आत्ममनसोः सन्निकर्षाभावे नोत्पद्यते प्रत्यक्षम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभाववदिति ॥ २२ ॥

सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् कारणभावं ब्रुवतः—

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ? ॥ २३ ॥

दिगादिषु सत्सु ज्ञानभावात् तान्यपि कारणानीति ?

अकारणभावेऽपि ज्ञानोत्पत्तिः; दिगादिसन्निधेरवर्जनीयत्वात्। यदाप्यकारणं दिगादीनि ज्ञानोत्पत्तौ, तदापि सत्सु दिगादिषु ज्ञानेन भवितव्यम्, न हि दिगादीनां सन्निधिः शक्यः परिवर्जयितुमिति। तत्र कारणभावे हेतुवचनम्-एतस्माद्धेतोर्दिगादीनि ज्ञानकारणानीति ॥ २३ ॥

आत्ममनःसन्निकर्षस्तर्ह्युपसङ्ख्येय इति ?

[सिद्धान्तपक्षः]

तत्रेदमुच्यते—

[पूर्वपक्षी कहता है—] आत्ममनःसन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है, वह आपने प्रत्यक्ष-लक्षण में नहीं दिखाया (अतः आपका प्रत्यक्षलक्षण पूर्ण नहीं है)।

असंयुक्त द्रव्य संयोगजन्य गुण की उत्पत्ति नहीं होती; जब कि ज्ञानोत्पत्ति होती है तब आत्ममनःसन्निकर्ष से लोक में ज्ञानोत्पत्ति देखे जाने से यह भी प्रत्यक्ष का कारण है। मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा न रखते हुए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष का कारण मानने पर अनेक ज्ञान एक साथ उत्पन्न होने लगेंगे, अतः मनःसन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है। इस सूत्र के व्याख्यान में कथनीय विषय का विस्तृत विवेचन हम पहले (१.१.४) कर चुके हैं ॥ २१ ॥

आत्ममनःसन्निकर्ष के विना प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती ॥ २२ ॥

आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष के विना प्रमेय का प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के विना उसका प्रत्यक्ष नहीं होता; अतः आत्ममनःसन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है ॥ २२ ॥

[मध्यस्थ पुरुष पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती, दोनों को आपत्ति दे रहा है—] इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की सत्ता द्वारा ज्ञान (प्रत्यक्ष) की उत्पत्ति देखी जाने से उक्त सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष का कारण बतलानेवाले के मत में—

दिशा देश, काल, आकाश में भी यही प्रसङ्ग होने लगेगा ॥ २३ ॥

प्रत्यक्ष के समय दिशा आदि भी रहते हैं तो इन्हें भी प्रत्यक्ष का कारण मान लिया जाय ?

[मध्यस्थ पुरुष की इस आपत्ति का भाष्यकार परिहार करते हैं—] यदि उक्त दिशा आदि को ज्ञान का कारण न मानें तो भी उनके सामीप्य को हटाना दुःशक है अर्थात् उनको कारण मानने या न मानने पर भी ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व वे रहते ही हैं, अतः उनका सामीप्य निराकृत करना असम्भव है। उनका कारणत्व सिद्ध करने के लिये आप (मध्यस्थ) को कोई हेतु दिखाना चाहिये कि इस हेतु से वे दिगादिक प्रत्यक्ष में कारण हैं ॥ २३ ॥

---

१. अत्र तात्पर्यकाराः—''तदिदम् 'नात्ममनसोः सन्निकर्षा॰' इत्यादि सूत्रं पाठस्य पुरस्तात् कृतभाष्यम्''—एवं व्याचक्षते, तत्तु युक्तिपूर्वकं न्यायपरिशुद्धौ खण्डितम्।

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः[1] ॥ २४ ॥

ज्ञानमात्मलिङ्गम्; तद्गुणत्वात्। न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजस्य गुणस्योत्पत्तिरस्तीति ॥ २४ ॥

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥ २५ ॥

अनवरोध इति वर्त्तते। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१.१.१६) इत्युच्यमाने सिध्यत्येव मनःसन्निकर्षापेक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षो ज्ञानकारणमिति ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां निमित्तमात्ममनःसन्निकर्षः, प्रत्यक्षस्यैवेन्द्रियार्थसन्निकर्ष इत्यसमानः, असमानत्वात् तस्य ग्रहणम् ॥ २६ ॥

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षानिमित्तत्वात् ॥ २७ ॥

[पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछता है—] तो प्रत्यक्षलक्षण में 'आत्ममनःसन्निकर्ष' का उपसङ्ख्यान कर देना चाहिये ?

सिद्धान्ती उत्तर देता है—

आत्मा की ज्ञानरूप हेतु से सिद्धि होने के कारण (प्रत्यक्ष-लक्षण में) उसका असंग्रह नहीं है ॥ २४ ॥

आत्मा का गुण होने से ज्ञान उसका (साधक) है। असंयुक्त द्रव्य में संयोजक गुण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। अतः प्रत्यक्षलक्षण में ज्ञान का निवेश होने से आत्ममनःसन्निकर्ष भी उसमें आ जाता है, पृथक्पाठ की कोई आवश्यकता नहीं ॥ २४ ॥

और अनेक ज्ञान के एक काल में न होने का साधक होने से मन का भी (प्रत्यक्ष-लक्षण में असंग्रह) नहीं (है) ॥ २५ ॥

ऊपर (२४वें सूत्र) से 'अनवरोधः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'एक साथ अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति ही मन की सत्ता में हेतु है' (१.१.१६)—ऐसा जब हम कह चुके तो उसी से यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यक्ष भी मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा रखता है ॥ २५ ॥

[यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि उक्त प्रकार से आत्मा,तथा मन का प्रत्यक्षलक्षण में समावेश हो सकता है तो इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष का भी प्रत्यक्षलक्षण में कारण होने से आतममनस्क सन्निकर्ष की तरह ग्रहण हो सकता था, फिर उसका प्रत्यक्षलक्षण में शब्दतः ग्रहण क्यों किया ? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—]

एकमात्र प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण होने से इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष को शब्दतः (नामग्रहणपूर्वक) लक्षण में पढ़ा गया है ॥ २६ ॥

आत्ममनःसन्निकर्ष तो सामान्यतः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द—चारों ही प्रमाणों के सहकारी कारण है; परन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्ष में ही कारण है—यह विशेषता है। अतः उसका कण्ठतः शब्दपूर्वक ग्रहण किया गया है ॥ २६ ॥

[सूत्रकार कण्ठतः ग्रहण में एक कारण और बतला रहे हैं—]

सोये हुए तथा किसी एक विषय में आसक्त मन वाले पुरुषों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष में निमित्त कारणत्व होने से भी ॥ २७ ॥

---

१. 'नाऽवरोधः' इति, 'नानवबोधः' इति च पाठा॰।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणम्, नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति। एकदा खल्वयं प्रबोधकालं प्रणिधाय सुप्तः प्रणिधानवशात् प्रबुध्यते। यदा तु तीव्रौ ध्वनिस्पर्शौ प्रबोधकारणं भवतः, तदा प्रसुप्तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तं प्रबोधज्ञानमुत्पद्यते, तत्र न ज्ञातुर्मनसश्च सन्निकर्षस्य प्राधान्यं भवति, किं तर्हि? इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य। न ह्यात्मा जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनस्तदा प्रेरयतीति।

एकदा खल्वयं विषयान्तरासक्तमनाः सङ्कल्पवशाद्विषयान्तरं जिज्ञासमानः प्रयत्न-प्रेरितेन मनसा इन्द्रियं संयोज्य तद्विषयान्तरं जानीते। यदा तु खल्वस्य निःसङ्कल्पस्य निर्जिज्ञा-सस्य च व्यासक्तमनसो बाह्यविषयोपनिपातनाज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यम्। न ह्यत्रासौ जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनः प्रेरयतीति। प्राधान्याच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यम्, गुणत्वाद् नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति॥ २७॥

प्राधान्ये च हेत्वन्तरम्—

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम्॥ २८॥

तैरिन्द्रियैरर्थैश्च व्यपदिश्यन्ते ज्ञानविशेषाः। कथम्? घ्राणेन जिघ्रति, चक्षुषा पश्यति, रसनया रसयतीति; घ्राणविज्ञानं चक्षुर्विज्ञानं रसनविज्ञानं गन्धविज्ञानं रूपविज्ञानं रसविज्ञानमिति च। इन्द्रियविषयविशेषाच्च पञ्चधा बुद्धिर्भवति। अतः प्राधान्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्येति॥ २८॥

प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ग्रहण है, आत्ममनःसन्निकर्ष का नहीं। कोई पुरुष 'मैं अमुक समय पुनः जग जाऊँगा'—ऐसा निश्चय कर सो जाता है, तो उस निश्चय के अनुसार जग भी जाता है। परन्तु जब कोई तीव्र शब्द या किसी वस्तु का स्पर्श जगने में कारण बन जायँ तो उस सोये हुए को बीच में इन्द्रियसन्निकर्षहेतुक प्रबोधज्ञान हो जाता है। उक्त प्रबोधज्ञान में आत्मा या मन का सन्निकर्ष प्रधान (मुख्य) नहीं हैं; अपितु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ही प्राधान्य है; क्योंकि उस समय आत्मा किसी जिज्ञासा से प्रयत्नपूर्वक मन को कोई प्रेरणा नहीं करता।

इसी प्रकार कभी आत्मा किसी समय किसी दूसरे विषय में चित्त के आसक्त होने पर भी सङ्कल्पवश अन्य विषय की जिज्ञासा करता हुआ मन को इन्द्रिय से लगा कर विषयन्तर जान लेता है; परन्तु यही निःसङ्कल्प रहे या कोई जिज्ञासा न करे तथा अन्य विषय में आसक्त हो तो उस समय भी बाह्य विषय का जो अकस्मात् ज्ञान होता है—उसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रधान होता है, न कि आत्ममनःसन्निकर्ष; क्योंकि इसमें भी आत्मा कोई प्रयत्न कर मन को प्रेरणा नहीं करता।

इस प्रकार उक्त प्रत्यक्षलक्षण में मुख्य होने के कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ही ग्रहण करना चाहिये, न कि गौण आत्ममनःसन्निकर्ष का॥ २७॥

इस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के मुख्य होने में एक और कारण है—

ज्ञानविशेषों (चाक्षुष, घ्राणज आदि विभिन्न प्रत्यक्ष ज्ञानों) का उन्हीं इन्द्रियों से व्यवहार होता है॥ २८॥

उन उन इन्द्रिय तथा अर्थों से वे वे ज्ञान व्यवहृत होते हैं। जैसे—नाक से सूंघता है, आँख से देखता है, जिह्वा से चखता है; या यह नाक से प्रत्यक्ष हुआ ज्ञान है, यह आँख से हुआ ज्ञान है, यह घ्राणेन्द्रिय से उत्पन्न गन्ध का ज्ञान है, यह चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न रूप का ज्ञान है और यह जिह्वेन्द्रिय से उत्पन्न रस का ज्ञान है आदि। इन्द्रियों तथा उनके विषयों के भेद से यह ज्ञान पाँच प्रकार का है। अस्तु। इसलिये भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्रधान होने से प्रत्यक्षलक्षण में इस 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' का शब्दतः ग्रहण हुआ है॥ २८॥

यदुक्तम्—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षग्रहणं कार्यम्, नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति, कस्मात्? सुप्तव्यासक्तमनसामिन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य ज्ञाननिमित्तत्वात्' इति, सोऽयम्—

व्याहतत्वादहेतुः॥ २९॥

यदि तावत् क्वचिदात्मनसोः सन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं नेष्यते? तदा 'युगपज्ज्ञाना-नुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१.१.१६) इति व्याहन्येत। नेदानीं मनसः सन्निकर्षमिन्द्रियार्थसन्नि-कर्षोऽपेक्षते। मनःसंयोगानपेक्षायां च युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। अथ मा भूद्व्याघात इति सर्व-विज्ञानानामात्ममनसोः सन्निकर्षः कारणमिष्यते? तदवस्थमेवेदं भवति-'ज्ञानकारणत्वादात्म-मनसोः सन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यम्' इति॥ २९॥

नार्थविशेषप्राबल्यात्॥ ३०॥

नास्ति व्याघातः, न ह्यात्ममनःसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं व्यभिचरति। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षस्य प्राधान्यमुपादीयते; अर्थविशेषप्राबल्याद्धि सुप्तव्यासक्तमनसां ज्ञानोत्पत्तिरेकदा भवति। अर्थविशेषः=कश्चिदेवेन्द्रियार्थः, तस्य प्राबल्यम्=तीव्रता-पटुते। तच्चार्थविशेष-प्राबल्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षविषयम्, नात्ममनसोः सन्निकर्षविषयम्। तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रधानमिति।

पूर्वपक्ष—यह जो कहा था कि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ही प्रत्यक्षलक्षण में लेना चाहिये, आत्ममनःसन्निकर्ष को नहीं; क्योंकि सुप्त तथा व्यासक्तमना पुरुषों के आकस्मिक ज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रधानतया कारण है'—यह हेतु

विरोधी होने के कारण असद्धेतु है?॥ २९॥

क्योंकि यदि आत्ममनःसन्निकर्ष को कहीं प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण न मानोगे तो 'युग-पज्ज्ञानानुत्पाद ही मन की सत्ता में हेतु है' (१.१.१६)—यह वचन-भङ्ग हो जायगा; क्योंकि सुप्त-व्यासक्तमना पुरुषों का इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं रखता। यदि यह ज्ञान मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा न रखेगा तो फिर युगपद् अनेक ज्ञान भी उत्पन्न होने लगेंगे। और यदि, उक्त वचनभङ्ग न हो, इसलिये सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों में आत्ममनःसन्निकर्ष मानोगे तो फिर वही बात मान लेनी होगी कि ज्ञानकारण होने से आत्ममनःसन्निकर्ष का भी प्रत्यक्षलक्षण में ग्रहण करना चाहिये?॥ २९॥

उत्तरपक्ष—

किसी इन्द्रियविशेष के प्रबल होने से (वचनव्याघात) नहीं है॥ ३०॥

वचनव्याघात नहीं है, अर्थात् आत्ममनःसन्निकर्ष का ज्ञानकारणत्व व्यभिचरित नहीं होता। हम तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कारण को प्रत्यक्षज्ञान में प्रधानतामात्र दे रहे हैं; क्योंकि सुप्त या व्यासक्तमना पुरुषों को अर्थविशेष के प्राधान्य से उस उस समय में वैसा-वैसा ज्ञानोत्पाद हो जाता है। अर्थविशेष से तात्पर्य है कोई विशेष इन्द्रियार्थ, उसका प्राबल्य अर्थात् तीव्रता या पटुता। यह अर्थविशेष की प्रबलता इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षविषयक ही है, न कि आत्ममनःसन्निकर्षविषयक। अतः इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष ही प्रत्यक्षज्ञान में प्रधान है।

शङ्का—इच्छा तथा सङ्कल्प के न रहने पर सुप्त तथा व्यासक्तमना पुरुषों का जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ मनःसंयोग भी कारण है तो उस संयोग को उत्पन्न करनेवाली मनःक्रिया किस कारण से होती है—यह बताना चाहिये?

असति प्रणिधाने, सङ्कल्पे चासति, सुखव्यासक्तमनसां यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं तत्र मनःसंयोगोऽपि कारणमिति मनसि क्रियाकारणं वाच्यमिति ?

यथैव ज्ञातुः खल्वयमिच्छाजनितः प्रग्रहो[१] मनसः प्रेरक आत्मगुणः, एवमात्मनि गुणान्तरं सर्वस्य साधकं प्रवृत्तिदोषजनितमस्ति, येन प्रेरितं मन इन्द्रियेण सम्बध्यते। तेन ह्यप्रेर्यमाणे मनसि संयोगाभावाद् ज्ञानानुत्पत्तौ सर्वार्थताऽस्य निवर्त्तते। एषितव्यं चास्य गुणान्तरस्य द्रव्यगुणकर्मकारणत्वम्; अन्यथा हि चतुर्विधानामणूनां भूतसूक्ष्माणां मनसां च ततोऽन्यस्य क्रियाहेतोरसम्भवात् शरीरेन्द्रियविषयाणामनुत्पत्तिप्रसङ्गः ॥ ३० ॥

विषयपरीक्षा

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ?॥ ३१ ॥

यदिदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानम्—'वृक्ष' इति, एतत् किल प्रत्यक्षम्, तत् खल्वनुमानमेव। कस्मात् ? एकदेशग्रहणात् वृक्षस्योपलब्धेः। अर्वाग्भागमयं गृहीत्वा वृक्षमुपलभते; न चैकदेशो वृक्षः। तत्र यथा धूमं गृहीत्वा वह्निमनुमिनोति तादृगेव तद् भवति ?॥ ३१ ॥

किं पुनर्गृह्यमाणादेकदेशाद् अर्थान्तरमनुमेयं मन्यसे! अवयवसमूहपक्षे अवयवान्तराणि, द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे तानि चावयवी चेति? अवयवसमूहपक्षे तावदेकदेशग्रहणाद्

उत्तर—जैसे आत्मा (ज्ञाता) का इच्छाजनित प्रयत्न मन का प्रेरक है, उसी प्रकार आत्मा में एक और (अदृष्ट) गुण है जो कि समग्र भोग तथा उनके साधनों का जनक है, तथा पूर्वोक्त (१.१.१७-१८) प्रवृत्ति तथा दोष से जनित है, इसकी प्रेरणा से मन इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है। वह अदृष्ट आत्मगुण यदि मन को प्रेरणा न करे तो संयोग न होने से ज्ञानोत्पत्ति न हो सकने से इसकी सर्वार्थता (सब कार्यों का कारण होना) निवृत्त हो जाती है; अदृष्ट गुण को द्रव्य, गुण तथा कर्मों का कारण मानना भी आवश्यक है; अन्यथा पृथ्वी आदि चार भूतों के मूल कारण अणु सूक्ष्म भूत तथा इस मन में अदृष्ट गुण को छोड़कर अन्य कोई क्रियोत्पादक कारण न होने से शरीर, इन्द्रिय तथा विषयों की उत्पत्ति ही नहीं बनेगी—यह एक नयी बाधा आ खड़ी होगी!॥ ३० ॥

[इस प्रकार प्रत्यक्षलक्षण के स्वरूप की परीक्षा करने के बाद अब उसके **विषय की परीक्षा** प्रारम्भ की जा रही है—]

प्रत्यक्ष अनुमान ही है, क्योंकि अवयवी का एकदेश के ग्रहण से ज्ञान होता है ?॥ ३१ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न 'वृक्ष' यह प्रत्यक्ष ज्ञान एक तरह से अनुमान ही है; क्योंकि यह वृक्ष के एक भाग (कुछ अवयवों) का ग्रहण करके ही हो जाता है। वृक्ष के अग्र भागको देखकर यह वृक्ष का ज्ञान कर लेता है, परन्तु अग्र भाग ही तो वृक्ष नहीं है! वहाँ (अनुमान में) जैसे धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होता है, वही स्थिति यहाँ (वृक्ष के प्रत्यक्ष में) भी है। इस प्रकार 'प्रत्यक्षादि चार प्रमाण हैं' सिद्धान्ती की यह प्रतिज्ञा नष्ट हो गयी ?॥ ३१ ॥

सिद्धान्ती पूछता है कि आप चक्षुःसन्निकर्ष से ज्ञायमान वृक्ष के अग्रभाग से अनुमान करने योग्य दूसरा क्या पदार्थ मानते हैं ?

इसके उत्तर में **पूर्वपक्षी** कहता है कि यहाँ हमें दो विप्रतिपत्तियाँ हैं—१. 'अवयवी अवयवों से पृथक् नहीं है' इस अवयवसमूहपक्ष में अन्य अवयवों (जो दिखायी नहीं दिये थे) का अनुमान

१. 'प्रयत्नः' इति पाठः।

वृक्षबुद्धेरभावः, नागृह्यमाणमेकदेशान्तरं वृक्षो गृह्यमाणैकदेशवदिति। अथ एकदेशग्रहणादेकदेशान्तरानुमाने समुदायप्रतिसन्धानात् तत्र वृक्षबुद्धिः ? न तर्हि वृक्षबुद्धिरनुमानमेवं सति भवितुमर्हतीति। द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे नावयव्यनुमेयः, अस्यैकदेशसम्बद्धस्याग्रहणात्, ग्रहणे चाविशेषादनुमेयत्वाभावः। तस्माद् वृक्षबुद्धिरनुमानं न भवति।

एकदेशग्रहणमाश्रित्य प्रत्यक्षस्यानुमानत्वमुपपाद्यते। तच्च—

न; प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ ३२ ॥

न प्रत्यक्षमनुमानम्। कस्मात् ? प्रत्यक्षेणैवोपलम्भात्। यत् तदेकदेशग्रहणमाश्रीयते, प्रत्यक्षेणासावुपलम्भः। न चोपलम्भो निर्विषयोऽस्ति। यावच्चार्थजातं तस्य विषयः, तावदभ्यनुज्ञायमानं प्रत्यक्षव्यवस्थापकं भवति।

किं पुनस्ततोऽन्यदर्थजातम् ? अवयवी, समुदायो वा। न चैकदेशग्रहणमनुमानं भावयितुं शक्यम्; हेत्वभावादिति।

अन्यथापि च प्रत्यक्षस्य नानुमानत्वप्रसङ्गः; तत्पूर्वकत्वात्। प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं सम्बद्धावग्निधूमौ प्रत्यक्षतो दृष्टवतो धूमप्रत्यक्षदर्शनादग्नावनुमानं भवति। तत्र यच्च सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः प्रत्यक्षम्, यच्च लिङ्गमात्रप्रत्यक्षग्रहणम्, नैतदन्तरेणानुमानस्य

करते हैं, तथा २. 'अवयवों से कोई अवयवी नामक अर्थान्तर ही उत्पन्न होता है'-इस द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्ष में अवशिष्ट अवयवों तथा अवयवी का अनुमान करते हैं ?

इस पर **सिद्धान्ती** का उत्तर है—अवयवसमूहपक्ष में, एकदेश (अग्रभाग) के ग्रहण से 'यह वृक्ष है' ऐसी बुद्धि नहीं हो सकती; इसी प्रकार, गृह्यमाण एकदेश की तरह अगृह्यमाण एकदेश (अवशिष्ट अवयव) भी वृक्ष नहीं है, तब तो 'यह वृक्ष है' इस बुद्धि का ही अपलाप होने लगेगा! यदि यह कहो कि एकदेश के ग्रहण से अवशिष्ट एकदेश का अनुमान कर समूहप्रतिसन्धान से 'यह वृक्ष है'—ऐसी बुद्धि हो सकती है ? हम कहते हैं कि तब भी 'यह वृक्ष है'—ऐसी बुद्धि कैसे बनेगी; क्योंकि तुमने अवयवान्तरों का ही अनुमान किया है, वृक्ष का तो अनुमान किया नहीं! द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्ष में भी-अवयवान्तरसम्बद्ध होकर अवयवी कैसे गृहीत होगा ? यदि होता है तो दृश्यमान अवयव से सम्बद्ध होकर अवयवी का प्रत्यक्ष हो गया, तब वह अनुमेय नहीं होगा!

एकदेश का ग्रहण होकर वृक्षप्रत्यक्ष का अनुमान में अन्तर्भाव करना उचित—

नहीं; क्योंकि उस अवशिष्ट एकदेश का ग्रहण भी प्रत्यक्ष से ही होता है ॥ ३२ ॥

प्रत्यक्ष अनुमान में अन्तर्भूत नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वपक्षी द्वारा गृहीत उस वृक्ष के अवशिष्ट एकदेश का भी प्रत्यक्ष होता है। जिसके एकदेश का ग्रहण आधार माना जाता है वह भी प्रत्यक्षविषय है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो विषयरहित हो; क्योंकि जितने अग्रभाग के साथ अर्थसमुदाय विषय होंगे वे सब प्रत्यक्षव्यवस्थापक हैं—ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष भी सिद्ध हो जाता है।

दृश्यमान अवयवों से भिन्न इस अवशिष्ट अर्थसमूह को आप क्या मानते है ? अवयवी, या समुदाय! तब हेतु के न रहते उस एकदेश का ग्रहण अनुमान से कैसे होगा!

एक दूसरी युक्ति भी प्रत्यक्ष के अनुमानान्तर्भाव की बाधिका है, वह है-तत्पूर्वकत्व। अर्थात् अनुमान तो स्वयं प्रत्यक्षपूर्वक होता है, उसमें प्रत्यक्ष का अन्तर्भाव कैसे हो पायगा! पहले कभी धूम-अग्नि को एक साथ प्रत्यक्ष देखने वाले को ही अब धूम के प्रत्यक्षदर्शन से अग्नि का अनुमान हो पाता

प्रवृत्तिरस्ति। नत्वेतदनुमानम्; इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्। न चानुमेयस्येन्द्रियेण सन्निकर्षादनुमानं भवति। सोऽयं प्रत्यक्षानुमानयोर्लक्षणभेदो महानाश्रयितव्य इति॥ ३२॥

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात्[1]॥ ३३॥

न चैकदेशोपलब्धिमात्रम्। किं तर्हि? एकदेशोपलब्धिः, तत्सहचरितावयव्युपलब्धिश्च। कस्मात्? अवयविसद्भावात्। अस्ति ह्ययमेकदेशव्यतिरिक्तोऽवयवी, तस्यावयवस्थानस्योपलब्धिकारणप्राप्तस्यैकदेशोपलब्धावनुपलब्धिरनुपपन्नेति।

अकृत्स्नग्रहणादिति चेद्, न; कारणतोऽन्यस्यैकदेशस्याभावात्। न चावयवाः कृत्स्ना गृह्यन्ते, अवयवैरेवावयवान्तरव्यवधानाद्; नावयवी कृत्स्नो गृह्यते इति, नायं गृह्यमाणेष्ववयवेषु परिसमाप्त इति सेयमेकदेशोपलब्धिरनिवृत्तैवेति? कृत्स्नमिति वै खल्वशेषतायां सत्यां भवति, अकृत्स्नमिति शेषे सति। तच्चैतदवयवेषु बहुष्वस्ति, अव्यवधाने ग्रहणाद् व्यवधाने चाग्रहणादिति।

है। अन्यथा अनुमान की इस पूरी प्रक्रिया में सम्बद्ध लिङ्ग (धूम) तथा लिङ्गी (वह्नि) का पहले प्रत्यक्ष, तथा अनुमानकाल में लिङ्गदर्शन के विना अनुमान की प्रवृत्ति कैसे होगी? इसे आप अनुमान तो कह नहीं सकते; क्योंकि यह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ही है। अनुमेय (वह्नि) का यदि इन्द्रियसन्निकर्ष हो जाय तो वह अनुमान क्यों कर होगा! यह अनुमान और प्रत्यक्ष का सबसे बड़ा भेद है—इसे प्रत्येक जिज्ञासु को समझे रखना चाहिये॥ ३२॥

[नैयायिकों के मत से घटावयवों से भिन्न एक पृथक् घटादि अवयवी होता है, परन्तु बौद्धों के मत में यह अवयवी कोई पृथक् प्रमेय नहीं है, अपितु वह परमाणुरूप अवयवसमूह ही है। बौद्धों के मत में परमाणुरूप कतिपय अवयवों का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु नैयायिकों के मत में अवयवी का भी होता है। अतः बौद्धों का आक्षेप है कि घटादि अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं होगा, इसका समाधान कर रहे हैं—]

एकदेश का ही प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु उसके साथ अवयवी का भी प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि वहाँ अवयवी भी रहता है॥ ३३॥

एकदेश (अवयव) मात्र का ही प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता; अपितु एकदेश के ज्ञान के साथ तत्सहचरित अवयवी का भी ज्ञान हो जाता है। कैसे? क्योंकि उस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के समय अवयव के साथ उस अवयवी की भी सत्ता रहती है। यद्यपि यह अवयवी अपने उस अवयव से पृथक् है, परन्तु जब वह अवयवसंस्थानविशेष के रूप में उपलब्धि-कारण हो तब एकदेश की उपलब्धि के समय कारण बन कर प्रत्यक्षज्ञान करा देगा तो वहीं स्थित अवयवी का ज्ञान न हो—यह कैसे हो सकेगा!

यदि कहो कि एकदेश का ग्रहण होने से वह नहीं दिखायी देगा? तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि समवायिकारण को छोड़कर दूसरा एकदेश पृथक् नहीं है। पूर्वपक्षी कहता है कि सम्पूर्ण अवयवों का उस समय ग्रहण नहीं होता; क्योंकि पृष्ठभाग के अवयव अग्रभाग के अवयवों से व्यवहित हैं—इसलिये समग्र अवयवी भी गृहीत नहीं होता, तथा गृह्यमाण अवयवों में अवयवी पर्याप्त नहीं है, अतः एकदेशोपलब्धि में अवयव्युपलब्धि कैसे होगी? उत्तर है—'कृत्स्न'—ऐसा कथन तभी बन सकता है, जब कोई शेष न बचे; 'अकृत्स्न'—ऐसा भी तब कहते हैं, जब कोई शेष बच जाय।

---

१. इदं न सूत्रं किन्तु भाष्यमेवेति केचित्। केचित्पुनरवयविसद्भावादित्येव सूत्रमिति वदन्ति।

अङ्ग तु भवान् पृष्टो व्याचष्टाम्-गृह्यमाणस्यावयविनः किमगृहीतं मन्यते, येनैकदेशोपलब्धिः स्यादिति; न ह्यस्य कारणेभ्योऽन्ये एकदेशा भवन्तीति तत्रावयववृत्तं नोपपद्यत इति! इदं तस्य वृत्तम्—येषामिन्द्रियसन्निकर्षाद् ग्रहणम्, अवयवानां तैः सह गृह्यते, येषामवयवानां व्यवधानाद् ग्रहणं तैः सह न गृह्यते। न चैतत्कृतोऽस्ति भेद इति।

समुदाय्यशेषता वा समुदायो वृक्षः स्यात्, तत्प्राप्तिर्वा; उभयथा ग्रहणाभावः। मूलस्कन्धशाखापलाशादीनामशेषता वा समुदायो वृक्ष इति स्यात्, प्राप्तिर्वा समुदायिनामिति, उभयथा समुदायभूतस्य वृक्षस्य ग्रहणं नोपपद्यते इति। अवयवैस्तावदवयवान्तरस्य व्यवधानादशेषग्रहणं नोपपद्यते। प्राप्तिग्रहणमपि नोपपद्यते; प्राप्तिमतामग्रहणात्। सेयमेकदेशग्रहणसहचरिता वृक्षबुद्धिर्द्रव्यान्तरोत्पत्तौ कल्पते, न समुदायमात्रे इति॥ ३३॥

प्रसङ्गोपात्ता अवयविपरीक्षा

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः?॥ ३४॥

यदुक्तम्—'अवयविसद्भावात्' इति, अयमहेतुः; साध्यत्वात्। साध्यं तावत्—एत्कारणेभ्यो द्रव्यान्तरमुत्पद्यते इति, अनुपपादितमेतत्। एवं च सति विप्रतिपत्तिमात्रं भवति, विप्रतिपत्तेश्चावयविनि संशय इति?॥ ३४॥

यह 'कृत्स्न' या 'अकृत्स्न' व्यवहार अनेक अवयवों के होने पर ही हो सकता है। तब जिन अवयवों में व्यवधान होता है, उनका ग्रहण नहीं हो पाता, अव्यवहितों का प्रत्यक्ष हो जाता है।

अवयवी को कृत्स्न या अकृत्स्न कैसे कहा जा सकता है?—पूछने पर, पूर्वपक्षी सम्भवतः यह भी कहने लगे कि ज्ञायमान वृक्षावयवी का क्या नहीं जाना गया मानते हो, जिससे मदुक्त एकदेशोपलब्धि बन सके; वृक्षावयवी का समवायिकारण शाखा, पत्र, मूल से अतिरिक्त कोई एकदेश नहीं होता, जिससे उसमें अवयवस्वभाव उपपन्न नहीं होता! परन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन अयुक्त है; क्योंकि उस अवयवी का यह स्वभाव है कि जिन अवयवों के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष व्यवधान होने से न हो उनके साथ वह गृहीत नहीं होता, तथा अव्यवहितों के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष से वह गृहीत हो जाता है। इतनी बात को लेकर वस्तुतः कोई भेद नहीं बनता।

[अब भाष्यकार 'परमाणुरूप अवयवसमूह ही अवयवी (वृक्ष) होता है'—इस **बौद्धमत का खण्डन** कर रहे हैं—] समुदायवाले परमाणुओं की अशेषता (सम्पूर्णता) ही अवयवसमुदाय वृक्ष हो, या उन अवयवों का संयोग—उभयथा ही वृक्षबुद्धि का ग्रहण नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि मूल, स्कन्ध शाखा पत्र-आदि अवयवों की समग्रता को ही समुदायरूप से वृक्ष मानें या उन समुदायियों की परस्पर प्राप्ति (संयोग) मानें, दोनों ही नयों में समुदायभूत (अवयवी) वृक्ष का ग्रहण नहीं हो पायगा; क्योंकि अवयवों से अवयवान्तर का व्यवधान होने के कारण ग्रहण नहीं बन सकेगा। अवयवों के परस्पर संयोग से भी ग्रहण नहीं हो सकेगा। क्योंकि संयोगवाले अवयवों में यह ग्रहण नहीं होता, अतः यह एकदेशग्रहण के साथ होनेवाली 'यह वृक्ष है' ऐसी बुद्धि द्रव्यान्तरोत्पत्ति मानने पर तो बन सकती है, अवयवों का समुदायमात्र मानने पर नहीं बनेगी॥ ३३॥

साध्य होने से अवयवों से भिन्न अवयवी में संशय है॥ ३४॥

पूर्वोक्त ३३वें सूत्र में एकदेशोपलब्धि न होने में 'अवयविसद्भाव' हेतु दिया गया था, यह हेतु साध्य है। अर्थात् प्रमाणों से यह सिद्ध करना चाहिये कि 'इन कारणों से द्रव्यान्तर उत्पन्न होता है'।

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३५ ॥

यद्यवयवी नास्ति सर्वस्य ग्रहणं[१] नोपपद्यते। किं तत् सर्वम् ? द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः। कथं कृत्वा ? परमाणुसमवस्थानं तावद् दर्शनविषयो न भवति, अतीन्द्रियत्वादणूनाम्। द्रव्यान्तरं चावयविभूतं दर्शनविषयो नास्ति, दर्शनविषयस्थाश्चेमे द्रव्यादयो गृह्यन्ते, ते निरधिष्ठाना न गृह्येरन्! गृह्यन्ते तु-'कुम्भोऽयं श्याम एको महान् संयुक्तः स्पन्दते अस्ति मृन्मयश्च' इति। सन्ति चेमे गुणादयो धर्मा इति। तेन सर्वस्य ग्रहणात् पश्यामः-अस्ति द्रव्यान्तरभूतोऽवयवीति ॥ ३५ ॥

धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

अवयव्यर्थान्तरभूत इति।

संग्रहकारिते वै धारणाऽऽकर्षणे। संग्रहो नाम संयोगसहचरितं गुणान्तरं स्नेहद्रवत्वकारितमपां संयोगादामे कुम्भे, अग्निसंयोगात् पक्वे। यदि त्ववयविकारिते अभविष्यताम्, पांशुराशिप्रभृतिष्वप्यज्ञास्येताम्; द्रव्यान्तरानुत्पत्तौ च तृणोपलकाष्ठादिषु जतुसंगृहीतेष्वपि नाभविष्यतामिति ?

क्योंकि यह सिद्ध नहीं किया गया, अतः अयुक्त है। इस तरह उक्त हेतु में विप्रतिपत्ति होने लगेगी, तथा विप्रतिपत्ति से अवयवी में संशय होगा ॥ ३४ ॥

और अवयवी की सिद्धि न होने से सम्पूर्ण का ग्रहण न होगा ॥ ३५ ॥

यदि अवयवी सिद्ध न होगा तो सम्पूर्ण का ग्रहण न होगा। वह सम्पूर्ण क्या है ? द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। क्यों ऐसा होगा ? परमाणु का परस्परसंयोग प्रत्यक्ष का विषय नहीं हुआ करता; क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं। यदि उन्हें अवयवी मानें तो तुम्हारे मत से द्रव्यान्तर कह कर कोई अवयवी नहीं है। द्रव्यादि तो दर्शनविषय (अवयवी) में ही रहते हैं, अवयवी के न रहने पर वे निरधिष्ठान होते हुए प्रत्यक्ष कैसे होंगे! लोक में अवयवी वृत्ति के लिये यह व्यवहार देखा जाता है—'यह घट काला है, एक है, बड़ा है, द्रव्यान्तर से संयुक्त है, इसमें चेष्टा है, इसकी सत्ता है, यह मृन्मय है'—इत्यादि। (अवयवों के बारे में ऐसा कोई व्यवहार नहीं देखते।) ये गुणादि धर्म भी उस अवयवी (घट द्रव्य) में हैं, (न कि अवयवसमूह में)! अतः इस 'सम्पूर्ण' के ग्रहण से हम मानते हैं कि अवयवी अवयवसमूह से पृथक् है ॥ ३५ ॥

तभी उसमें धारणा तथा आकर्षण भी बनेंगे ॥ ३६ ॥

धारण (इकट्ठा पकड़कर उठाना), आकर्षण (इकट्ठा खींचना) की उपपत्ति से भी अवयवी द्रव्यान्तर सिद्ध होता है। अर्थात् यह दृश्यमान घटादि अवयवी अवयवों से पृथक् नहीं है, अन्यथा इसमें धारण तथा आकर्षण नहीं बनेंगे।

शङ्का—धारण तथा आकर्षण अवयवों के संग्रह होते हैं, संग्रह से तात्पर्य है-संयोग-सहचार से गुणान्तर का आ जाना, जैसे कच्चे घड़े में जल के संयोग से स्नेहद्रवत्वप्रयुक्त गुणान्तर है तथा अग्नि के संयोग से पक्के घड़े में गुणान्तर। यदि ये कार्य (धारण, आकर्षण) अवयवी के कारण होते तो पांशुराशि (धूलिसमूह) में भी दिखायी देने चाहियें। अथच, द्रव्यान्तर की अनुत्पत्ति में ये न होते तो तृण, उपल, काष्ठ आदि में या लाक्षा से संगृहीत मोती आदि में ये धारण, आकर्षण नहीं होने चाहिये; क्योंकि सिद्धान्ती के मत में भी वहाँ कोई अवयवी द्रव्यान्तर नहीं है ?

---

१. अवयव्यसिद्धेः प्रत्यक्षाभावः, प्रत्यक्षाभावेऽनुमाद्यभावः इति सर्वप्रमाणाग्रहणमिति वार्त्तिकेऽर्थान्तरमपि व्याख्यातम्।

अथावयविनं प्रत्याचक्षाणको 'मा भूत् प्रत्यक्षलोपः' इत्यणुसञ्चयं दर्शनविषयं प्रतिजानानः किमनुयोक्तव्य इति ?

एकमिदं द्रव्यमित्येकबुद्धेर्विषयं पर्यनुयोज्यः। किमेकबुद्धिरभिन्नार्थविषयेति ? आहोस्वित् भिन्नार्थविषयेति ? अभिन्नार्थविषयेति चेद्, अर्थान्तरानुज्ञानादवयविसिद्धिः। नानार्थविषयेति चेद्, भिन्नेष्वेकदर्शनानुपपत्तिः। अनेकस्मिन्नेक इति व्याहता बुद्धिर्न दृश्यत इति ॥ ३६ ॥

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्न; अतीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥ ३७ ॥

यथा सेनाङ्गेषु वनाङ्गेषु च दूरादगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिः, एवमणुषु सञ्चितेष्वगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिरिति ? यथा गृह्यमाणपृथक्त्वानां सेनावनाङ्गानामारात् कारणान्तरतः पृथक्त्वस्याग्रहणम्, यथा गृह्यमाणजातीनाम् 'पलाश इति वा', 'खदिर इति वा' नाराज्जातिग्रहणं भवति, यथा गृह्यमाणप्रस्पन्दानां नारात् स्पन्दग्रहणम्, गृह्यमाणे चार्थजाते पृथक्त्वस्याग्रहणादेकमिति भाक्तः प्रत्ययो भवति; न त्वणूनामगृह्यमाणपृथक्त्वानां कारणतः पृथक्त्वाग्रहणाद् भाक्त एकप्रत्ययोऽतीन्द्रियत्वादणूनामिति।

इदमेव च परीक्ष्यते—किमेकप्रत्ययोऽणुसञ्चयविषयः; आहोस्विन्नेति ? अणुसञ्चय एव सेनावनाङ्गानि। न च परीक्ष्यमाणमुदाहरणमिति युक्तम्; साध्यत्वादिति।

मध्यस्थ की शङ्का—अवयवी का खण्डन करनेवाले पूर्वपक्षी (बौद्ध) को—जो कि प्रत्यक्षप्रमाण का लोप न हो जाय, इसलिये विवशतः परमाणुसमूह में ही प्रत्यक्ष की स्थापना कर रहा है, क्या उत्तर देना चाहिये ?

उत्तर—'यह एक द्रव्य है'—यहाँ एकबुद्धि का विषय क्या होगा ? यह उससे पूछना चाहिये। क्या वह एकबुद्धि एकविषयक है, या नानार्थविषयक ? यदि एकार्थविषयक है तो अर्थान्तर की स्वीकृति से अवयवी की सिद्धि भी हो गयी। यदि वह नानार्थविषयक है तो अनेक में एक ज्ञान कैसे बनेगा ? 'अनेक में एक'—यह विरोधी ज्ञान कहीं नहीं देखा गया ॥ ३६ ॥

सेना या वन की तरह अनेक में एक का ग्रहण हो जायगा—ऐसा भी नहीं मान सकते; क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं, उनका इन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

जैसे सेना के अवयवों या वन के अवयवों में उनका पार्थक्य दूर से दिखायी न देने से अनेकों में एकबुद्धि हो जाती है, इसी तरह पार्थक्य से अगृहीत परमाणुसङ्घात में एकबुद्धि हो सकती है ?

सेनाङ्ग या वनाङ्ग के पृथक्त्व का ग्रहण हो सकता है, परन्तु दूरतारूपी कारणान्तर से उस पृथक्त्व का ग्रहण नहीं होता, और जैसे पलाश आदि की जाति गृहीत हो सकती है कि 'यह पलाश है' या 'यह खदिर है', परन्तु दूरता के कारण उसका जातिग्रहण नहीं हो पाता, तथा समीप में चेष्टाओं का स्पन्दन गृहीत हो सकता है परन्तु दूरता के कारण नहीं हो पाता; ऐसे ऐसे अर्थसमूह को जब गृहीत करते हैं तो उसके पार्थक्य के अगृहीत होने से उसमें औपचारिक एकबुद्धि हो जाती है। यही बात परमाणुओं के बारे में नहीं कह सकते; क्योंकि परमाणुओं का तो पृथक्त्व गृहीत नहीं होता। कारणवशात् उनके पृथक्त्व गृहीत नहीं हैं तो एकबुद्धि परमाणुपुञ्ज में कैसे बन सकती है; कारण, अणु तो अतीन्द्रिय हैं।

इस प्रसङ्ग में यही परीक्ष्य है कि क्या अणुसमूह 'एक' इस बुद्धि का विषय बनता है ? या

दृष्टमिति चेत्? न; तद्विषयस्य परीक्षोपपत्तेः। यदपि मन्यते—दृष्टमिदं सेनावनाङ्गानां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणम्, न च दृष्टं शक्यं प्रत्याख्यातुमिति? तच्च नैवम्; तद्विषयस्य परीक्षोपपत्तेः। दर्शनविषय एवायं परीक्ष्यते। योऽयमेकमिति प्रत्ययो दृश्यते, स परीक्ष्यते-किं द्रव्यान्तरविषयो वा, अथाणुसञ्चयविषय इति? अत्र दर्शनमन्यतरस्य साधकं न भवति। नानाभावे चाणूनां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणम् अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः, यथा स्थाणौ पुरुष इति। ततः किम्? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षित्वात् प्रधानसिद्धिः।

स्थाणौ पुरुष इति प्रत्ययस्य किं प्रधानम्?[१] योऽसौ पुरुषे पुरुषप्रत्ययस्तस्मिन् सति पुरुषसामान्यग्रहणात् स्थाणौ पुरुषोऽयमिति। एवं नानाभूतेष्वेकमिति सामान्यग्रहणात् प्रधाने सति भवितुमर्हति। प्रधानं च सर्वस्याग्रहणादिति नोपपद्यते। तस्मादभिन्न एवायमभेदप्रत्यय एकमिति।

इन्द्रियान्तरविषयेष्वभेदप्रत्ययः प्रधानमिति चेद्, न; विशेषहेत्वभावात् दृष्टान्ताव्यवस्था। श्रोत्रादिविषयेषु शब्दादिष्वभिन्नेष्वेकप्रत्ययः प्रधानमनेकस्मिन्नेकप्रत्ययस्येति। एवं च सति दृष्टान्तोपादानं न व्यवतिष्ठते; विशेषहेत्वभावात्। अणुषु सञ्चितेष्वेकप्रत्ययः किमतस्मिं-

नहीं? सेनाङ्ग या वनाङ्ग वाले उदाहरण भी अणुसमूह की तरह ही समझें। अणुसमूह के समान वे भी यहाँ साध्य होने से परीक्षा के विषय हैं, उन्हें उदाहरणरूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

उनका वैसा (अभेदेन) प्रत्यक्ष होता है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि वह प्रत्यक्ष परीक्षा (संशय) का विषय बन सकता है। यह जो मानते हो—"सेनाङ्ग या वनाङ्गों का पार्थक्य गृहीत न होने से 'अभेदेन एक है' ऐसा प्रत्यक्ष होता है, एक वार कृत प्रत्यक्ष का प्रत्याख्यान हो नहीं सकता"? यह बात भी उचित नहीं है; क्योंकि उसी प्रश्न पर तो वहाँ विचार हो रहा है कि दर्शनविषय कौन बन सकता है। 'एक—इस बुद्धि का विषय कौन बने—क्या उस बुद्धि का विषय द्रव्यान्तर है या वही अणुसमूह?' इस परीक्षा के अवसर पर किसी एक (सेना इत्यादि) का उदाहरण प्रत्यक्षसाधक रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। अणुओं के नाना होने पर भी पृथक्त्व के गृहीत न होने से 'अभेदेन एक' यह ज्ञान तो वैसा ही है जैसा तदभाववान् में सत्ता का आरोपित ज्ञान, जैसे स्थाणु में पुरुषत्व का आरोप। इससे क्या हानि (अनिष्ट) होगी? 'अतत् में तत् का सत्ताज्ञान' के प्रधानापेक्षी होने से प्रधान (अणुसमूह में अभेदेन एकत्व) की सिद्धि होने लगेगी।

'स्थाणु में पुरुष'—इस ज्ञान में प्रधान कौन है? यह जो 'पुरुष' में पुरुषबुद्धि है उसके रहते पुरुषसामान्य का ग्रहण हो कर 'यह पुरुष है' यह ज्ञान स्थाणु में भी होता है। इसी प्रकार 'अनेकों में एक'—इस सामान्यग्रहण से कोई प्रधान हो तो अनेक में एकत्व गृहीत हो सकता है, पर अणुओं के नाना होने से सब का ग्रहण न हो पाने के कारण उनमें प्रधानत्व उपपन्न नहीं हो पा रहा है। अतः अभिन्न में अभेद का प्रत्यय ही, 'एक' ऐसी बुद्धि है!

यदि यह कहो कि श्रवणादि इन्द्रियान्तर के विषयों (शब्दादि) में अभेदज्ञान को ही यहाँ प्रधान मान लिया जाय? तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि विशेष हेतु न होने से इस दृष्टान्त की अव्यवस्था बनेगी। तात्पर्य यह है कि श्रोत्रादि के प्रत्यक्षविषयक शब्दादि अभिन्न में एक प्रत्यय का यहाँ (चाक्षुषपरीक्षाप्रसङ्ग में) प्राधान्येन उपन्यास करना—युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि आपका यह दृष्टान्त विशेष हेतु न होने से स्वयं अव्यवस्थित है। इकट्ठे अणुओं में एकबुद्धि क्या 'अतत् में तत्ता' ज्ञान है,

१. येन प्रत्ययेन विपरीतारोपः सम्पाद्यते सादृश्यवशात् तत्प्रधानम्, यथा—स्थाणौ पुरुषप्रत्ययस्य पुरुषे पुरुषप्रत्ययः।

स्तदिति प्रत्ययः स्थाणौ पुरुषप्रत्ययवत्? अथार्थस्य तथाभावात्तस्मिंस्तदिति प्रत्ययः, यथा—शब्दस्यैकत्वादेकः शब्द इति? विशेषहेतुपरिग्रहणमन्तरेण दृष्टान्तौ संशयमापादयत इति। कुम्भवत् सञ्चयमात्रं गन्धादयोऽपीत्यनुदाहरणं गन्धादय इति।

एवं परिमाणसंयोगस्पन्दजातिविशेषप्रत्ययानप्यनुयोक्तव्यः, तेषु चैवं प्रसङ्ग इति।

१. एकत्वबुद्धिस्तस्मिंस्तदिति इति विशेषहेतुर्महदिति प्रत्ययेन सामानाधिकरण्यात्। एकमिदं महच्चेति एकविषयौ प्रत्ययौ समानाधिकरणौ भवतः, तेन विज्ञायते-यन्महत्तदेकमिति। अणुसमूहातिशयग्रहणं महत्प्रत्यय इति चेत्? सोऽयममहत्सु अणुषु महत्प्रत्ययोऽतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवतीति। किं चातः? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षित्वात् प्रधानसिद्धिरिति भवितव्यं महत्येव महत्प्रत्ययेनेति।

अणुः शब्दो महानिति च व्यवसायात् प्रधानसिद्धिरिति चेत्? न; मन्दतीव्रताग्रहणमियत्तानवधारणाद्, यथा द्रव्ये। अणुः शब्दोऽल्पो मन्द इत्येतस्य ग्रहणं महान् शब्दः पटुस्तीव्र इत्येतस्य ग्रहणम्। कस्मात्? इयत्तानवधारणात्। न ह्ययम् 'महान् शब्दः' इति व्यवस्यन् 'इयानयम्' इत्यवधारयति, यथा बदरामलकबिल्वादीनि।

२. संयुक्ते इमे इति च द्वित्वसमानाश्रयप्राप्तिग्रहणम्।

जैसे—स्थाणु में पुरुष का ज्ञान? या अर्थ ही वैसा होने से स्वसत्ताज्ञान, जैसे एक शब्द होने से उसमें एकत्वबुद्धि? यों दोनों ही तरह से, विशेष हेतु न मिलने के कारण आपके दृष्टान्त संशयग्रस्त हैं। जैसे—'घट की तरह गन्धादि भी अणुसञ्चय मात्र हैं' इसमें गन्धादि उदाहरण संशयापन्न हैं; क्योंकि उनकी सञ्चयता भी घटादि की तरह साध्य है।

इस प्रसङ्ग में इस अणुसमूहवादी से—एकबुद्धि की तरह परिमाण, संयोग, चेष्टा, जातिविशेष, आदि के ज्ञान को लेकर भी प्रश्न करना चाहिये।

१. तत् में एकत्वप्रत्यय विशेष हेतु है तो इस साध्य में 'महत्' ज्ञान से सामानाधिकरण्य होने के कारण 'यह एक है' तथा 'महान् है'—ये दोनों ज्ञान एक ही विषय तथा समान अधिकरण में हो रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि 'जो महान् है वही एक है'।

यदि यह कहो कि अणुसमूह का अतिशय (आधिक्य) बोधन के लिये यहाँ महच्छब्द का प्रयोग है? तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि तब यह अमहान् (लघु) अणुओं में महत्त्व बतलाना 'अतत् में तत्ता' बोधन (आरोप) होगा, वास्तविक नहीं। इससे अनिष्ट यह होगा कि 'अतत् में तत्ता' ज्ञान के प्रधानापेक्षी होने से प्रधान की सिद्धि हुआ करती है, अतः 'महत्' का प्रत्यय 'महत्' में ही होगा, द्रव्यान्तर (अणु) में नहीं।

'शब्द अणु भी है महान् भी है'—ऐसा व्यवसाय होने से शब्द में प्रधान की सिद्धि हो जायगी? शब्द में अणुता, तीव्रता, पटुता आदि परिमाणविशेष का ज्ञान 'इयत्ता' का निश्चय न होने से नहीं होता, जैसा द्रव्य में हो जाता है। इयत्तानिश्चय न होने से 'शब्द अणु है, अल्प है, मन्द है'—यह ज्ञान तथा 'शब्द महान् है, तीव्र है'—यह ज्ञान नहीं होता। प्रयोक्ता पुरुष 'यह महान् शब्द है'—ऐसा निश्चय करता हुआ 'यह इतना बड़ा है'—ऐसा अवधारण नहीं कर पाता, जैसा बेर आमला-आदि फलों के विषय में कर लेता है।

२. 'ये दोनों संयुक्त हैं'—यह संयोग-ज्ञान भी तभी बन सकता है जब द्वित्व के समान आश्रय में वह हो।

द्वौ समुदायावाश्रयः संयोगस्येति चेत्—कोऽयं समुदायः ? प्राप्तिरनेकस्य, अनेका वा प्राप्तिरेकस्य समुदाय इति चेत् ? प्राप्तेरग्रहणं प्राप्त्याश्रितायाः। संयुक्ते इमे वस्तुनी इति नात्र द्वे प्राप्ती संयुक्ते गृह्येते।

अनेकसमूहः समुदाय इति चेद्, न; द्वित्वेन समानाधिकरणस्य ग्रहणात्। द्वाविमौ संयुक्तावर्थाविति ग्रहणे सति नानेकसमूहाश्रयः संयोगो गृह्यते। न च द्वयोरण्वोर्ग्रहणमस्ति। तस्मान्महती द्वित्वाश्रयभूते द्रव्ये संयोगस्य स्थानमिति।

३. प्रत्यासत्तिः प्रतीघातावसाना संयोगो नार्थान्तरमिति चेत् ? न; अर्थान्तरहेतुत्वात् संयोगस्य। शब्दरूपादिस्पन्दानां हेतुः संयोगः। नच द्रव्ययोर्गुणान्तरोपजननमन्तरेण शब्दे रूपादिषु स्पन्दे च कारणत्वं गृह्यते तस्माद् गुणान्तरम्, प्रत्ययविषयश्चार्थान्तरं तत्प्रतिषेधो वा-कुण्डली गुरुः, अकुण्डलश्छात्र इति। संयोगबुद्धेश्च यद्यर्थान्तरं न विषयः, अर्थान्तरप्रतिषेधस्तर्हि विषयः ? तत्र प्रतिषिध्यमानवचनम्। 'संयुक्ते द्रव्ये' इति यदर्थान्तरमन्यत्र दृष्टमिह प्रतिषिध्यते, तद्वक्तव्यमिति। द्वयोर्महतोराश्रितस्य ग्रहणान्नाण्वाश्रय इति।

पूर्वपक्षी यदि यह कहे—दो समुदाय इस संयोग के आश्रय हैं, तो उनसे हम पूछते हैं कि यह समुदाय कौन है ? क्या अनेक का एक संयोग या एक में अनेक संयोग ? तो संयोगाश्रित संयोग का ग्रहण नहीं हुआ करता। 'ये दोनों वस्तु संयुक्त होकर हैं'—इन ज्ञान में दो संयोग संयुक्त में गृहीत नहीं होते।

अनेक संयोगसमूह को समुदाय मान लें ? नहीं मान सकते; क्योंकि संयुक्त द्वित्व से समानाधिकरणत्व का ही संयोग में ग्रहण कर पाता है, 'ये दो अर्थ (घट पट) संयुक्त है'—इस ज्ञान में अनेकसमूह में संयोग गृहीत नहीं होता ! और फिर दो अणु का तो (अतीन्द्रिय होने से) ज्ञान भी नहीं हो पाता। अतः निष्कर्ष यह निकला कि द्वित्वाश्रयभूत महान् द्रव्य में ही संयोग बन सकता है।

३. अवरोध (रोक) समाप्त होकर समीप आ जाना ही संयोग है, इसके अतिरिक्त यह कुछ नहीं ?—ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि संयोग अर्थान्तर का हेतु है, न कि स्वयं अर्थान्तर। संयोग शब्द, रूप आदि तथा स्पन्द का हेतु है। दो द्रव्यों में गुणविशेष की उत्पत्ति के विना, शब्द, रूप तथा स्पन्द निरूपित कारणत्व (जनकत्व) नहीं गृहीत हो सकता, अतः यह गुणान्तर है। इस अर्थान्तर का या उसके प्रतिषेध का प्रत्यक्ष भी होता है, जैसे 'गुरु कुण्डल धारण किये हुए हैं' 'छात्र कुण्डल धारण किये हुए नहीं है'। (यदि यह अर्थान्तर न होता तो 'कुण्डलगुरु' या 'गुरुकुण्डल' ऐसा शब्द प्रयुक्त होता, न कि मतुबर्थक 'कुण्डली'। इसी प्रकार 'अकुण्डल छात्र' या 'छात्राकुण्डल' शब्द-प्रयोग होता, न कि बहुव्रीहि समास वाला। यह अर्थान्तर है तभी 'समर्थः पदविधिः' (२.१.१) इस पाणिनि के अनुशासन से मतुप्प्रत्यय तथा बहुव्रीहि समास की प्रवृत्ति हुई; क्योंकि उक्त शास्त्र अर्थ-सम्बन्ध में ही प्रवृत्त होता है; अन्यथा लोकशास्त्रविरोधप्रसङ्ग होने लगेगा। 'गुरु कुण्डल से संयुक्त है' इस बुद्धि का यदि अर्थान्तर विषय नहीं है, तो अर्थान्तरप्रतिषेध ही उसका विषय मानना पड़ेगा। तब वहाँ प्रतिषिध्यमान क्या है—यह स्पष्टतः बतावें। अर्थात् उस 'संयुक्त द्रव्य में' इस प्रतीति में जो अर्थान्तर अन्यत्र देखा गया है, परन्तु उसका यहाँ प्रतिषेध कर रहे हैं तो उसे शब्दतः बताइये कि वह क्या है ! दो 'महत्' में समवायेन वृत्तिमान् संयोग का ग्रहण होने से वह अण्वाश्रित नहीं हो सकता (क्योंकि वैसा सम्भव नहीं है)।

जातिविशेषस्य प्रत्ययानुवृत्तिलिङ्गस्याप्रत्याख्यानम्, प्रत्याख्याने वा प्रत्ययव्यवस्थानुपपत्तिः। व्यधिकरणस्यानभिव्यक्तेरधिकरणवचनम्। अणुसमवस्थानं विषय इति चेत् ? प्राप्ताप्राप्तसामर्थ्यवचनम्। किमप्राप्ते अणुसमवस्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो गृह्यते ? अथ प्राप्ते इति ? अप्राप्ते ग्रहणमिति चेत् ? व्यवहितस्याणुसमवस्थानस्याप्युपलब्धिप्रसङ्गः, व्यवहितेऽणुसमवस्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो गृह्येत। प्राप्ते ग्रहणमिति चेत् ? मध्यपरभागयोरप्राप्तावनभिव्यक्तिः। यावत्प्राप्तं भवति तावत्यभिव्यक्तिरिति चेत् ? तावतोऽधिकरणत्वमणुसमवस्थानस्य। यावति प्राप्ते जातिविशेषो गृह्यते तावदस्याधिकरणमिति प्राप्तं भवति। तत्रैकसमुदाये प्रतीयमानेऽर्थभेदः। एवं च सति योऽयमणुसमुदायो वृक्ष इति प्रतीयते, तत्र वृक्षबहुत्वं प्रतीयेत—यत्र यत्र ह्यणुसमुदायस्य भागे वृक्षत्वं गृह्यते स स वृक्ष इति।

तस्मात् समुदिताणुसमवस्थानस्यार्थान्तरस्य जातिविशेषाभिव्यक्तिविषयत्वादवयव्यर्थान्तरभूत इति ॥ ३७ ॥

अनुमानपरीक्षाप्रकरणम् [३८-४४]

परीक्षितं प्रत्यक्षम्। अनुमानमिदानीं परीक्ष्यते—

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ? ॥ ३८ ॥

अप्रमाणमिति—एकदाप्यर्थस्य न प्रतिपादकमिति। रोधादपि नदी पूर्णा गृह्यते, तदा च

---

४. एकाकारप्रतीतिक हेतु के जातिविशेष का अप्रत्याख्यान भी, समूह को अवयवी मानने पर, नहीं बनेगा। यदि किसी तरह बन भी जाय तो भी उक्त प्रतीतिव्यवस्था नहीं बन पायगी; क्योंकि आश्रयप्रतीति के विना जातिप्रतीति कैसे होगी !

यदि व्यधिकरण की अभिव्यक्ति न होने से परमाणु का अधिकरणत्व अप्रत्याख्यात होता है तो जाति मानेंगे तब वह व्यधिकरण कौन सा है ? बताइये। यदि कहें कि परमाणु ही किसी संयोगविशेष से रहते हुए उस जाति को व्यक्त करते हैं, तो यह बताइये कि संयुक्त अणुसमूह में जातिविशेष को व्यक्त करता है, या असंयुक्त अणुसमूह में ? यदि असंयुक्त में व्यक्त करता है ? तो व्यवहित अणुसंयुक्त की उपलब्धि होने लगेगी; अर्थात् व्यवहित अणुसंयुक्त में भी तदाश्रित जातिविशेष गृहीत होने लगेगा। यदि कहें कि संयुक्त में ग्रहण होता है ? तो उस अणुसमूह के मध्य तथा पृष्ठभाग से संयोग न होने के कारण उनमें ही अनभिव्यक्ति रहेगी। यदि कहें कि जितने के साथ संयोग हुआ, उतने में जाति की अभिव्यक्ति हो जायगी ? तो अभिव्यक्त जातिविशेष का अधिकरण कौन है--यह बताइये। अर्थात् जितने अणुसमूह के संयुक्त होने पर जातिविशेष गृहीत होता है, उतना उसका अधिकरण हो जायगा। एवं च—वहाँ एकसमुदाय की प्रतीति में विषय का बहुत अर्थभेद है। इस तरह जो 'अणुसमुदाय वृक्ष है'—ऐसी प्रतीति होती है, वहाँ वृक्षबहुत्व प्रतीत होने लगेगा। उस अणुसमुदाय के जिस जिस भाग में वृक्षत्व गृहीत होगा वह वह भाग वहाँ 'वृक्ष' कहलायगा। इसलिये निष्कर्ष यह निकला कि वृक्षत्व का अधिकरण कह कर जो लिया जाता है वह अणुसमूह न होकर अर्थान्तर ही जातिविशेष का आश्रय बन सकता है। वह अर्थान्तर अवयवी हो सकता है, न कि अणुसमूह ॥ ३७ ॥

प्रत्यक्ष का परीक्षण किया जा चुका, अब **अनुमान का परीक्षण** किया जा रहा है—

रोध, उपघात, तथा सादृश्य से अनुमान मिथ्या सिद्ध होने के कारण वह भी अप्रमाण है ॥ ३८ ॥

'उपरिष्टाद् वृष्टो देवः' इति मिथ्यानुमानम्। नीडोपघातादपि पिपीलिकाण्डसञ्चारो भवति, तदा च 'भविष्यति वृष्टिः' इति मिथ्यानुमानमिति। पुरुषोऽपि मयूरवाशितमनुकरोति, तदापि शब्दसादृश्यान्मिथ्यानुमानं भवति?॥ ३८॥

न; एकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात्॥ ३९॥

नायमनुमानव्यभिचारः, अननुमाने तु खल्वयमनुमानाभिमानः। कथम्? नाविशिष्टो लिङ्गं भवितुमर्हति। पूर्वोदकविशिष्टं खलु वर्षोदकं शीघ्रतरत्वं स्रोतसो बहुतरफेनफलपर्णकाष्ठादिवहनं चोपलभमानः पूर्णत्वेन नद्याः 'उपरि वृष्टो देवः' इत्यनुमिनोति, नोदकवृद्धिमात्रेण। पिपीलिकाप्रायस्याण्डसञ्चारे 'भविष्यति वृष्टिः' इत्यनुमीयते, न कासाञ्चिदिति। 'नेदं मयूरवाशितं तत्सदृशोऽयं शब्दः' इति विशेषापरिज्ञानान्मिथ्यानुमानमिति। यस्तु विशिष्टाच्छब्दाद् विशिष्टमयूरवाशितं गृह्णाति तस्य विशिष्टोऽर्थो गृह्यमाणो लिङ्गम्, यथा— सर्पादीनामिति। सोऽयमनुमातुरपराधो नानुमानस्य, योऽर्थविशेषेणानुमेयमर्थं विशिष्टार्थदर्शनेन बुभुत्सत इति॥ ३९॥

पीछे जो आप अनुमान के तीन भेद कर आये, उनमें एक भी अर्थ का यथार्थप्रतिपादक नहीं है। जैस शेषवदनुमान का उदाहरण है—नदी भरी हुई दिखायी देने से अनुमान होता है—'ऊपर कहीं वर्षा हुई है'; परन्तु कहीं आगे अवरोध (रुकावट) होने पर भी तो नदी भरी हुई दिखायी दे सकती है, अतः भरी हुई नदी देख कर वृष्टि का अनुमान मिथ्यानुमान है; क्योंकि यहाँ पूर्णत्व-हेतु व्यभिचारी है। इसी तरह पूर्ववदनुमान का उदाहरण—'चींटी अण्डा उठाये ले जा रहीं हैं, अतः वृष्टि होगी'—भी मिथ्यानुमान है, क्योंकि यहाँ 'चीटियों का अण्डे उठाना' हेतु उनके बिल (शरणस्थल) के नष्ट भ्रष्ट होने से भी हो सकता है, अतः वह व्यभिचारी है। इसी प्रकार सामान्यतोदृष्टानुमान का उदाहरण— 'मोर बोल रहे हैं, अतः वर्षा होगी' भी मिथ्यानुमान ही है; क्योंकि पुरुष भी परिहास या आजीविका के लिये मोर की बोली बोल लेते हैं, अतः यह 'मोर की बोली' हेतु यहाँ व्यभिचारी है॥ ३८॥

नहीं; क्योंकि एकदेश, त्रास, सादृश्य हेतुओं से उन उदाहरणों में अर्थान्तर आ जाता है॥ ३९॥

आपके द्वारा अनुमान के खण्डन में जो हेतु दिये हैं, उनसे अनुमान में व्यभिचार नहीं आता। ये उक्त उदाहरण यथार्थ 'अनुमान' नहीं; अपितु अननुमान में अनुमानाभिमान हैं। कैसे? सामान्य नदीवृद्धि विशेषण से अविशिष्ट होकर अनुमान में हेतु नहीं बनती, अपितु पहले के जल से विशिष्ट वर्षा का चल, प्रवाह का वेग, बहुत से झाग, फल, सूखे पत्ते, जंगल की लकड़ी-आदि उस जल में वेग से बहते हुए देखे और साथ में नदी को भी बढा हुआ देखे तब वह अनुमान में हेतु बनती है कि 'ऊपर वर्षा हुई है, नदी बढी होने से', अर्थात् केवल उदकवृद्धि से नहीं। इसी तरह बहुत-सी चींटियों के बराबर गमनागमन से 'वृष्टि होगी' यह अनुमान होता है, न कि कुछ चींटियों के गमनागमन से। 'यह मोर की बोली नहीं है, उसी तरह की पुरुष की बोली है'—ऐसा विशेष ज्ञान न होने से मिथ्यानुमान होता है। जो प्रमाता विशिष्ट शब्द से विशिष्ट मयूर ध्वनि (बोली) को जब ग्रहण करता है तब उस ध्वनि का विशिष्ट अर्थ गृहीत होता हुआ हेतु बनता है, जैसे सर्पादियों को मयूर की विशेष बोली सुनकर ही उनके अस्तित्व का अनुमान हो जाता है। इस प्रकार अनुमाता का ही यह अपराध माना जायगा कि वह अर्थविशेष हेतु से अनुमेय अर्थ को सामान्य अर्थ से जानने की इच्छा करता है, अनुमान का इसमें क्या दोष!॥ ३९॥

वर्तमानकालपरीक्षा

त्रिकालविषयमनुमानं त्रैकाल्यग्रहणादित्युक्तम्, अत्र च—

वर्त्तमानाभावः; पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः?॥ ४०॥

वृन्तात्प्रच्युतस्य फलस्य भूमौ प्रत्यासीदतो यदूर्ध्वं स पतितोऽध्वा, तत्संयुक्तः कालः पतितकालः; योऽधस्तात् स पतितव्योऽध्वा, तत्संयुक्तः कालः पतितव्यकालः; नेदानीं तृतीयोऽध्वा विद्यते यत्र 'पततीति वर्त्तमानः कालो गृह्येत! तस्माद् वर्तमानः कालो न विद्यत इति?॥ ४०॥

तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे; तदपेक्षत्वात्॥ ४१॥

नाध्वव्यङ्ग्यः कालः; किं तर्हि? क्रियाव्यङ्ग्यः-'पतति' इति। यदा पतनक्रिया व्युपरता भवति स कालः पतितकालः, यदोत्पत्स्यते स पतितव्यकालः, यदा द्रव्ये वर्तमाना क्रिया गृह्यते स वर्त्तमानः कालः। यदि चायं द्रव्ये वर्तमानं पतनं न गृह्णाति कस्योपरममुत्पत्स्यमानतां वा प्रतिपद्यते! पतितः काल इति भूता क्रिया, पतितव्यः काल इति चोत्पत्स्यमाना क्रिया। उभयोः कालयोः क्रियाहीनं द्रव्यम्, अधः पततीति क्रियासम्बद्धम्। सोऽयं क्रियाद्रव्ययोः सम्बन्धं गृह्णातीति वर्तमानः कालः, तदाश्रयौ चेतरौ कालौ तदभावे न स्यातामिति॥ ४१॥

पूर्वपक्ष—पीछे (१.१.५ में) आप 'त्रिकालयुक्त अर्थ अनुमान से गृहीत होते हैं, अतः अनुमान त्रिकालविषय है'—ऐसा कह आये हैं; और यहाँ—

वर्तमानकाल नहीं है; क्योंकि गिरती हुई वस्तु के केवल पतितकाल तथा पतितव्यकाल ही उपपन्न हैं?॥ ४०॥

डाल से टूटे फल के भूमि की ओर आते समय ऊपर (डाल और फल के बीच) का मार्ग पतित-मार्ग हुआ, उस पतन में लगने वाला काल 'पतितकाल' कहलाया। जो नीचे भूमि तक आने का मार्ग है वह पतितव्य-मार्ग हुआ, उसमें लगने वाला काल 'पतितव्यकाल' कहलायगा; अब ऐसा तीसरा कौन मार्ग रह गया जिसे हम 'गिरता है'—ऐसा कहते हुए वर्तमान काल कह सकें! अतः वर्तमान काल ही नहीं है—ऐसा हम मान लें?॥ ४०॥

उत्तर देते हैं—

वर्तमानकाल न मानोगे तो भूत, भविष्यत् काल की भी अनुपपत्ति होने लगेगी; क्यों कि वे वर्तमानापेक्षित हैं॥ ४१॥

समय मार्ग से नहीं, अपितु 'पड़ता है'—इस क्रिया से व्यक्त होता है। 'पड़ता है' से आरम्भ होकर जब पतन-क्रिया समाप्त हो जाती है वह काल 'पतितकाल', तथा जब पतनक्रिया उत्पन्न होगी वह काल 'पतितव्य काल' कहलाता है, और जब फल आदि द्रव्य में वर्तमान पतनक्रिया गृहीत होती है, वह 'वर्तमानकाल' कहलाता है। यदि यह पूर्वपक्षी वर्तमान पतनक्रिया को नहीं जानता है तो वह समाप्ति (भूतकाल) तथा प्रागभाव (भविष्यत्काल) का किसके सम्बन्ध में प्रतिपादन करेगा? पतितकाल भूत-क्रिया का तथा पतितव्यकाल भविष्यत्क्रिया का बोधक है। इन दोनों ही कालों में द्रव्य क्रियाहीन रहता है। 'नीचे गिरता है'—यह वर्तमानकाल अवश्य वर्तमान क्रिया से सम्बद्ध है। यह वर्तमानकाल द्रव्य-क्रिया का सम्बन्ध ग्रहण करता है, शेष दोनों काल इसी पर आश्रित हैं, यदि यह न होगा तो वे कहाँ से होंगे!॥ ४१॥

पचतीति। तत्र या उपरता सा 'कृतता', या चिकीर्षिता सा 'कर्त्तव्यता', या विद्यमाना सा 'क्रियमाणता'। तदेवं क्रियासन्तानस्थस्त्रैकाल्यसमाहारः-'पचति', 'पच्यते' इति वर्त्तमान-ग्रहणेन गृह्यते। क्रियासन्तानस्य ह्यत्राविच्छेदो विधीयते; नारम्भः, नोपरम इति।

सोऽयमुभयथा वर्त्तमानो गृह्यते—अव्यपवृक्तः, व्यपवृक्तश्च अतीतानागताभ्याम्। स्थितिव्यङ्ग्यः—विद्यते द्रव्यमिति। क्रियासन्तानाविच्छेदाभिधायी च त्रैकाल्यान्वितः—पचति, छिनत्तीति। अन्यश्च प्रत्यासत्तिप्रभृतेरर्थस्य विवक्षायां तदभिधायी बहुप्रकारो लोकेपु उत्प्रेक्षितव्यः। तस्मादस्ति वर्तमानः काल इति॥ ४४॥

उपमानपरीक्षाप्रकरणम्[४५-४९]

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ?॥ ४५॥

अत्यन्तसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न चैवं भवति—'यथा गौरेवं गौः' इति? प्रायसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न हि भवति-'यथाऽनड्वानेवं महिषः' इति? एकदेश-साधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न हि सर्वेण सर्वमुपमीयत इति?॥ ४५॥

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः॥ ४६॥

न साधर्म्यस्य कृत्स्नप्रायाल्पभावमाश्रित्योपमानं प्रवर्त्तते, किं तर्हि? प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनभावमाश्रित्योपमानं प्रवर्त्तते, यत्र चैतदस्ति, न तत्रोपमानं प्रतिषेद्धुं शक्यम्। तस्माद्यथोक्तदोषो नोपपद्यत इति॥ ४६॥

है—'पकाता है' ऐसा। इसमें जो क्रिया समाप्त हो चुकी उसे 'कृतता' कहते हैं, जो अभी प्रारम्भ नहीं हुई परन्तु करने की इच्छा है, वह कहलायी 'कर्तव्यता', और जो क्रिया विद्यमान है उसे कहेंगे 'क्रियमाणता'। इस प्रकार क्रियासन्तानस्थ यह त्रैकाल्यव्यवहार 'पकाता है' या 'पकाया जाता है'—यों वर्तमान के ग्रहण से गृहीत होता है। इस वर्तमान काल में क्रियासन्तान का केवल नैरन्तर्यविधान है, न कि आरम्भ या उपरम।

यों यह वर्तमान, अतीत एवं अनागत उभय रीति में उभयथा गृहीत होता है—अतीत में अव्यपवृक्त (पश्चात्) तथा अनागत में व्यपवृक्त (पूर्व)। वर्तमान में सत्ताक्रिया का उदाहरण है—'द्रव्य है'। क्रियासन्तान के नैरन्तर्य का बोधक तथा त्रैकाल्यान्वित (त्रिकाल में होनेवाला क्रियासमूह) का उदाहरण है—'पकाता है' या 'काटता है'। सामीप्य आदि की अर्थविवक्षा में तद्बोधक अन्य उदाहरणों की लोकव्यवहार को देखकर कल्पना कर लेनी चाहिये। अस्तु! निष्कर्ष यह निकाला कि वर्तमान काल भी है, अतः अनुमान प्रमाण में त्रैकाल्यविषयों का ग्रहण हो सकता है॥ ४४॥

अत्यन्तसादृश्य, प्रायसादृश्य तथा एकदेशसादृश्य के कारण उपमान की सिद्धि नहीं हो सकती?॥ ४५॥

उपमानपरीक्षा—अत्यन्तसादृश्य से उपमान सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता कि जैसी गौ हो ठीक वैसा ही बैल हो (कुछ न कुछ तो अन्तर होगा ही)। बाहुल्येन सादृश्य से उपमान की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि लोक में यह कब होता है कि जैसा बैल है वैसा ही भैंसा हो! यद्यपि दोनों में प्रायसादृश्य है। एकदेशसाधर्म्य से भी उपमान सिद्ध नहीं होता; क्योंकि तब कुछ न कुछ सादृश्य से सब का सबके साथ उपमान बनने लगेगा?॥ ४५॥

प्रसिद्ध-साधर्म्य से उपमानसिद्धि होने के कारण उक्त दोष नहीं बनेंगे॥ ४६॥

अस्तु तर्ह्युपमानमनुमानम्—

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ?॥ ४७॥

यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम्, एवं गवा प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षस्य गवयस्य ग्रहणमिति नेदमनुमानाद्विशिष्यते?॥ ४७॥

विशिष्यत इत्याह। कया युक्त्या?

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः॥ ४८॥

यदा ह्ययमुपयुक्तोपमानो गोदर्शी गवा समानमर्थं पश्यति, तदाऽयम् 'गवय' इत्यस्य संज्ञाशब्दस्य व्यवस्थां प्रतिपद्यते, न चेदमनुमानमिति।

परार्थं चोपमानम्, यस्य ह्युपमेयमप्रसिद्धं तदर्थं प्रसिद्धोभयेन क्रियते इति।

परार्थमुपमानमिति चेद्? न; स्वयमध्यवसायात्। भवति च भोः! स्वयमध्यवसायः-'यथा गौरेवं गवयः' इति? नाध्यवसायः प्रतिषिध्यते, उपमानं तु तत्र भवति-'प्रसिद्ध-साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' (१.१.६)। न च यस्योभयं प्रसिद्धं तं प्रति साध्यसाधनभावो विद्यत इति॥ ४८॥

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः॥ ४९॥

सादृश्य की समग्रता, प्रायता या अल्पता से नहीं; अपितु प्रसिद्धसादृश्य से साध्यसाधनभाव को लेकर उपमान प्रवृत्त होता है। ऐसा जहाँ है, वहाँ उपमान प्रतिषिद्ध नहीं हो सकता। अतः उक्त दोष नहीं बन पायेंगे॥ ४६॥

तो उपमान को अनुमान ही मान लें—

क्योंकि उपमान में भी प्रत्यक्ष के हेतु से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होती है?॥ ४७॥

जैसे धूम के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष वह्नि का ग्रहण अनुमान कहलाता है, इसी प्रकार उपमान में गौ के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष गवय का ग्रहण होता है। यह प्रमाण अनुमान से भिन्न नहीं हुआ, अतः क्यों न इसे अनुमान ही मान लें?॥ ४७॥

नहीं, यह अनुमान से भिन्न होता है; क्योंकि—

गवय का प्रत्यक्ष न होने पर उपमान की उपपत्ति नहीं लगती॥ ४८॥

जब उपमानवाक्यश्रोता गौ का प्रत्यक्ष कर चुका हो, तब वन में गोसदृश अनवधारित-संज्ञक विषय को आँखों से देखता है तब (उद्बुद्धसंस्कार) 'यह गवय है' ऐसी उस संज्ञाशब्द की नियत शक्ति को प्रतिपन्न होता है—यह प्रक्रिया अनुमान कैसे हुई! क्योंकि गवय के प्रत्यक्ष की तरह अनुमान में वह्नि का प्रत्यक्ष आवश्यक नहीं!

दूसरी बात यह है कि (अनुमान से स्वयं को ज्ञान होता है, जबकि) उपमान से दूसरे को संज्ञाशब्द की व्युत्पत्ति करायी जाती है। जिसको उपमेय (गवय) का ज्ञान न हो उसको उपमान द्वारा उपमेय की प्रसिद्धि दिखला कर ज्ञान कराया जाता है।

तो परार्थोपमान ही क्यों न मान लिया जाय? नहीं; इसमें स्वयम् को भी अध्यवसाय होने से इसे परार्थोपमान नहीं मान सकते। 'जैसी गौ वैसा यह गवय है' यह स्वयम् को अध्यवसाय होता है? अध्यवसाय नहीं होता—यह हम नहीं कह रहे, हम तो कहते हैं—वैसा परार्थोपमान नहीं होता! उपमान का लक्षण है—'प्रसिद्ध-सादृश्य से साध्य की सिद्धि' (१.१.६)। जिसको दोनों (उपमा, उपमेय) ही ज्ञात है उसके लिये साध्यसाधनभाव क्या बनेगा?॥ ४८॥

तथेति समानधर्मोपसंहारादुपमानं सिध्यति, नानुमानम्। अयं चानयोर्विशेष इति ॥ ४९ ॥

(क) शब्दसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् [५०-५७]

[पूर्वपक्षः]

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ? ॥ ५० ॥

१. शब्दोऽनुमानम्, न प्रमाणान्तरम्; कस्मात्? शब्दार्थस्यानुमेयत्वात्। कथमनुमेयत्वम्? प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेः। यथाऽनुपलभ्यमानो लिङ्गी मितेन लिङ्गेन पश्चान्मीयत इति अनुमानम्, एवं मितेन शब्देन पश्चान्मीयतेऽर्थोऽनुपलभ्यमान इत्यनुमानं शब्दः ? ॥ ५० ॥

२. इतश्चानुमानं शब्दः—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ? ॥ ५१ ॥

प्रमाणान्तरभावे द्विप्रवृत्तिरुपलब्धिः। अन्यथा ह्युपलब्धिरनुमाने, अन्यथोपमाने; तद्व्याख्यातम्। शब्दानुमानयोस्तूपलब्धिरद्विप्रवृत्तिः, यथानुमाने प्रवर्त्तते तथा शब्देऽपि विशेषाभावादनुमानं शब्द इति ? ॥ ५१ ॥

सम्बन्धाच्च ? ॥ ५२ ॥

३. शब्दोऽनुमानमिति वर्त्तते। सम्बद्धयोश्च शब्दार्थयोः सम्बन्धप्रसिद्धौ शब्दो-

---

'तथा'-इस उपसंहार से उपमान-सिद्धि होने से अनुमान तथा उपमान दोनों एक नहीं हो सकते ॥ ४९ ॥

उपमान में समानधर्म का 'वैसा यह'—इस प्रकार उपसंहार होने से उपमान प्रमाण सिद्ध होता है, ऐसा उपसंहार अनुमान में नहीं होता। अर्थात् अनुमान में—'जैसा धूम वैसी अग्नि'—यह उपसंहार नहीं हो पाता, परन्तु उपमान में 'जैसी गौ वैसा यह गवय'—यों उपसंहार होता है। यही अनुमान तथा उपमान में भेद है। अतः दोनों को पृथक् प्रमाण माना गया ॥ ४९ ॥

प्रत्यक्ष से अर्थोपलब्धि न होने पर अनुमेय होने से शब्दप्रमाण अनुमान है ? ॥ ५० ॥

१. शब्द अनुमान ही है, पृथक् प्रमाणान्तर नहीं; क्योंकि उसका अर्थ अनुमेय है। कैसे अनुमेय है? प्रत्यक्ष से अनुपलब्ध होने के कारण। जैसे—अनुपलभ्यमान वह्नि प्रत्यक्ष से ज्ञात धूम अनुमित होता है, एवमेव शब्दप्रत्यक्षानन्तर उससे अनुपलभ्यमान अर्थ की अनुमिति होता है, अतः हम शब्द को अनुमान ही मान लें ? ॥ ५० ॥

२. इस वक्ष्यमाण कारण से भी—

शब्द ज्ञान के अनुमान से भिन्न प्रकार का न होने से ॥ ५१ ॥

शब्द अनुमान ही है। शब्द यदि प्रमाणान्तर होता तो अनुमान से भिन्न प्रकार की उपलब्धि होनी चाहिये थी। आप पीछे उपमानप्रकरण में कह आये हैं—'उपमान में भिन्न उपलब्धि होती है, अनुमान में भिन्न, अतः उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है न कि अनुमानान्तर्भूत', परन्तु शब्द तथा अनुमान के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती; इन दोनों की तो समान उपलब्धि है, जैसे अनुमान से ज्ञान उत्पन्न होता है, ठीक उसी विधि से शब्द से भी। कोई विशेषता न होने से हम तो यही समझते हैं कि शब्द अनुमान ही है ॥ ५१ ॥

और सम्बन्ध से भी (शब्द अनुमान ही सिद्ध होता है) ? ॥ ५२ ॥

३. सम्बद्ध शब्दार्थ में ही सम्बन्ध-प्रसिद्धि होने पर शब्दोपलब्धि से अर्थग्रहण होता है,

पलब्धेरर्थग्रहणम्, यथा सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धप्रतीतौ लिङ्गोपलब्धौ लिङ्गिग्रहणमिति ? ॥ ५२ ॥

[सिद्धान्तपक्षः]

१. यत्तावदर्थस्यानुमेयत्वादिति, तत्र—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

स्वर्गः, अप्सरसः, उत्तरा कुरवः, सप्तद्वीपसमुद्रो[१] लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात् प्रत्ययः, किं तर्हि? 'आप्तैरयमुक्तः शब्दः' इत्यतः सम्प्रत्ययः; विपर्यये सम्प्रत्ययाभावाद्। न त्वेवमनुमानमिति।

२. यत्पुनरुपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वादिति ? अयमेव शब्दानुमानयोरुपलब्धेः प्रवृत्तिभेदः-तत्र विशेषे सत्यहेतुर्विशेषाभावादिति।

३. यत्पुनरिदं सम्बन्धाच्चेति ? अस्ति च शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽनुज्ञातः, अस्ति च प्रतिषिद्धः। 'अस्येदम्' इति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थाविशेषोऽनुज्ञातः, प्राप्तिलक्षणस्तु शब्दार्थयोः सम्बन्धः प्रतिषिद्धः। कस्मात्? प्रमाणतोऽनुपलब्धेः[२]। प्रत्यक्षतस्तावच्छब्दार्थप्राप्तेर्नोपलब्धिः; अतीन्द्रियत्वात्। येनेन्द्रियेण गृह्यते शब्दः, तस्य विषयभावमतिवृत्तोऽर्थो न

जैसे—सम्बद्ध लिङ्ग-लिङ्गी की सम्बन्धप्रसिद्धि होने पर लिङ्ग की उपलब्धि से लिङ्गी का ज्ञान होता है? तात्पर्य यह निकला कि शाब्द ज्ञान भी व्याप्तिज्ञानजन्य है, अतः वह वस्तुतः अनुमान ही है, उसे पृथक् प्रमाण मानने से क्या लाभ ? ॥ ५२ ॥

सिद्धान्तपक्ष—१. पूर्वपक्षी ने जो यह कहा कि—'अर्थ के अनुमेय होने से शब्द प्रमाण अनुमान है', वह उचित नहीं; क्योंकि—

आप्तोपदेश-सामर्थ्य से शब्द द्वारा ही अर्थज्ञान हो जाता है ॥ ५३ ॥

स्वर्ग, अप्सराएँ, उत्तर कुरुदेश, सात समुद्रवाला भूमण्डल इत्यादि अप्रत्यक्ष अर्थ का केवल शब्द से ज्ञान नहीं होता, 'आप्तपुरुषों ने यह शब्द इस अर्थ में कहा है' इसलिये उस शब्द से ज्ञान नहीं होता, अपितु 'आप्त पुरुषों ने यह शब्द इस अर्थ में कहा है' इसलिये उस शब्द से उस अर्थ का ज्ञान हो पाता है। यदि किसी शब्द के लिये वैसा आप्तोपदेष्टृत्व नहीं मिलता तो उस शब्द से शङ्कारहित ज्ञान भी नहीं होता। इस तरह शब्दज्ञान का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं होता।

२. पूर्वपक्षी ने जो यह कहा—'उपलब्धि भिन्न प्रकार की नहीं है'? यह भी उचित नहीं; क्योंकि शब्द की उक्त प्रवृत्ति अनुमान से भिन्न सिद्ध हो गयी। अतः अनुमान से शब्द में विशेषता आ गयी—तब 'विशेषाभाव' हेतु देना अयुक्त है।

३. पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध ज्ञात होना आवश्यक है, अतः सम्बन्ध होने से शब्द पृथक् प्रमाण नहीं है'? यह भी उचित नहीं; क्योंकि शब्द-अर्थ का सम्बन्ध स्वीकृत भी है, प्रतिषिद्ध भी है। जैसे—'इसका यह है' इस षष्ठीविशिष्ट वाक्य को षष्ठी का अर्थविशेष सम्बन्ध स्वीकृत है, संयोग-समवायान्यतरस्वरूप शब्दार्थ का सम्बन्ध प्रतिषिद्ध है; ऐसा क्यों? क्योंकि प्रमाण से उस अर्थविशेष की उपलब्धि नहीं होती। यतः प्रत्यक्ष प्रमाण से शब्दार्थ-सम्बन्ध

---

१. 'सप्त द्वीपाः, समुद्रो'-इति पाठा०।

२. क्वचित् सूत्रत्वेन परिगणितमेतद् भाष्यम्। न्यायसूचीनिबन्धे तु नास्ति, वृत्तिकृतापि च न व्याख्यातम्, नातः सूत्रम्।

गृह्यते। अस्ति चातीन्द्रियविषयभूतोऽप्यर्थः, समानेन चेन्द्रियेण गृह्यमाणयोः प्राप्तिर्गृह्यत इति॥५३॥

प्राप्तिलक्षणे च गृह्यमाणे सम्बन्धे शब्दार्थयोः शब्दान्तिके वार्थः स्यात्, अर्थान्तिके वा शब्दः स्याद्, उभयं वोभयत्र। अथ खल्वयम्—

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः॥५४॥

स्थानकरणाभावादिति चार्थः। न चायमनुमानतोऽप्युपलभ्यते-शब्दान्तिकेऽर्थ इति। एतस्मिन् पक्षेऽप्यास्यस्थानकरणोच्चारणीयः शब्दस्तदन्तिकेऽर्थ इति—अन्नाग्न्यसिशब्दोच्चारणे पूरणप्रदाहपाटनानि गृह्येरन्, न च गृह्यन्ते। अग्रहणान्नानुमेयः प्राप्तिलक्षणः सम्बन्धः। अर्थान्तिके शब्द इति स्थानकरणासम्भवाद् अनुच्चारणम्। स्थानम्=कण्ठादयः, करणम्=प्रयत्नविशेषः, तस्यार्थान्तिकेऽनुपपत्तिरिति। उभयप्रतिषेधाच्च नोभयम्। तस्मान्न शब्देनार्थः प्राप्त इति॥५४॥

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः?॥५५॥

शब्दादर्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयते—अस्ति शब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थाकारणम्। असम्बन्धे हि शब्दमात्रादर्थमात्रे प्रत्ययप्रसङ्गः। तस्मादप्रतिषेधः सम्बन्धस्येति?॥५५॥

की उपलब्धि नहीं हो सकती; क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। जिस इन्द्रिय से शब्द गृहीत होता है उस इन्द्रिय के विषयत्व को अर्थ अतिक्रान्त कर जाता है। अर्थ अतीन्द्रिय विषय है, अत: शब्द उसका विषय नहीं बन सकता। व्यवहार यह देखा जाता है कि दोनों के समान इन्द्रिय से गृहीत होने पर ही उनका सम्बन्ध गृहीत होता है॥५३॥

शब्दार्थ के संयोग-समवायान्तरस्वरूप सम्बन्ध को गृहीत करते समय या तो अर्थ शब्दाधिकरण हो, या फिर शब्द अर्थाधिकरण हो, या दोनों के अधिकरण हो। तब यह—

सम्बन्ध नहीं बनता; पूरण, प्रदाह, पाटन की उपलब्धि न होने से॥५४॥

सूत्रोक्त 'च' का अर्थ कण्ठादि स्थान तथा प्रयत्नादि न होना है। यह अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता कि अर्थ शब्दाधिकरण है। इस पक्ष में कण्ठादि स्थान तथा वायुक्रियादि प्रयत्नविशेष से उच्चारणीय शब्द को अर्थ का अधिकरण माना जाय तो 'अन्न', 'अग्नि' तथा 'असि' शब्दों के उच्चारण करने पर क्रमश: उनके अर्थ 'पूरण' (पेट भरना), 'दाह' (जलना) या 'पाटन' (फाड़ना)—इनका मुख में ग्रहण होना चाहिये; परन्तु ग्रहण नहीं होता, अत: सिद्ध होता है कि शब्द-अर्थ का वैसा सम्बन्ध नहीं बनता।

'शब्द अर्थाधिकरण है'—ऐसा मानें तो अर्थ के स्थान तथा करण न होने से उच्चारण ही असम्भव है। 'स्थान' का अर्थ है कण्ठादि तथा 'करण' का वाय्वादि क्रियारूप प्रयत्नविशेष। इन दोनों की अर्थाधिकरणपक्ष में उपपत्ति नहीं बनती। इस प्रकार अर्थाधिकरणता तथा शब्दाधिकरणता—दोनों का ही प्रतिषेध हो जाने पर दोनों नहीं बनते, अत: दोनों में ही संयोगसम्बन्ध सिद्ध नहीं हुआ॥५४॥

लोक में शब्द तथा अर्थ की व्यवस्था देखने से प्रतिषेध नहीं बनेगा?॥५५॥

शब्द से अर्थज्ञान होता है—ऐसा लोक में देखने से अनुमान होता है कि शब्दार्थसम्बन्ध व्यवस्था का कारण है। दोनों का सम्बन्ध न मानने पर शब्दमात्र से अर्थमात्र का ज्ञान होने लगेगा। इसलिये सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं है—ऐसा मान लें?॥५५॥

अत्र समाधिः—

न; सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य॥५६॥

न सम्बन्धकारितं शब्दार्थव्यवस्थानम्, किं तर्हि? समयकारितं यत्तदवोचाम। 'अस्येदम्' इति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति, समयं तमवोचाम इति। कः पुनरयं समयः? 'अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयम्' इति अभिधानाभिधेयनियमनियोगः। तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दादर्थसम्प्रत्ययो भवति। विपर्यये हि शब्दश्रवणेऽपि प्रत्ययाभावः। सम्बन्धवादिनापि चायमवर्जनीय इति।

प्रयुज्यमानग्रहणाच्च समयोपयोगो लौकिकानाम्। समयपालनार्थं चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम्। वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थो लक्षणम्। पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्ताविति। तदेवं प्राप्तिलक्षणस्य शब्दार्थसम्बन्धस्यार्थतुषोऽपि अनुमानहेतुर्न भवतीति॥५६॥

जातिविशेषे चानियमात्॥५७॥

सामयिकः शब्दादर्थसम्प्रत्ययः, न स्वाभाविकः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां यथाकामं शब्दविनियोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्त्तते। स्वाभाविके हि शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वे यथाकामं न स्याद्, यथा-तैजसस्य प्रकाशस्य रूपप्रत्ययहेतुत्वं न जातिविशेषे व्यभिचरतीति॥५७॥

(ख) शब्दविशेषपरीक्षाप्रकरणम् [५८-६९]

पुत्रकामेष्टिहवनाभ्यासेषु—

इसका उत्तर है—

नहीं; क्योंकि शब्दार्थसम्प्रत्यय सामयिक (साङ्केतिक) नहीं है॥५६॥

लोक में शब्दार्थ की व्यवस्था सम्बन्धापेक्ष नहीं; अपितु संकेतापेक्ष है। ऐसा हम दोनों कहते हैं—"'इसका यह' इस षष्ठीविशिष्ट वाक्य की किसी अर्थविशेष में स्वीकृति ही शब्दार्थ का सम्बन्ध है", तो यह हम संकेत के लिये ही कहते हैं। यह संकेत क्या है? 'इस शब्द का यह अर्थ अभिधेय है'—ऐसा विधिपरक अभिधानाभिधेयनियम। इस नियम का उपयोग करने पर शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। इस संकेत का ज्ञान न हो तो विदेशी भाषा का शब्द सुनने पर भी हमें अर्थज्ञान नहीं हो पाता। शब्दार्थसम्बन्धवादी (मीमांसक) को भी यह संकेतनियम मानना ही पड़ेगा।

लौकिकों को प्रयुज्यमान अर्थ के ग्रहण से ही संकेत-ग्रहण होता है। इस संकेत की रक्षा के लिये 'पदलक्षण अर्थात् वाचक शब्द का अन्वाख्यान' रूप व्याकरणशास्त्र बना है। वाक्यरूप वाणी के शब्दों का अर्थलक्षण=भेदक है। जहाँ अर्थ परिसमाप्त हो जाता हो—वह पदसमूह 'वाक्य' कहलाता है। यों, शब्दार्थ का संयोगरूप सम्बन्ध अनुमानहेतु नहीं बन सकता-यह सिद्ध हो गया॥५६॥

जातिविशेष में नियम न होने से भी शब्दार्थ-सम्बन्ध सामयिक नहीं बनता॥५७॥

शब्द से अर्थ का ज्ञान सांकेतिक है, न कि स्वाभाविक। ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छ जन अर्थज्ञान के लिये शब्दों का यथेच्छ आदान प्रदान करते हैं। यदि यह शब्दार्थसम्बन्ध स्वाभाविक होता तो उनका यथेच्छ प्रयोग न हो पाता। जैसे कि सूर्य आदि का प्रकाश रूपज्ञान का स्वाभाविक हेतु है, वह कहीं अन्यजातीय में व्यभिचरित नहीं होता॥५७॥

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ?॥ ५८ ॥

१. तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवान् ऋषिः। शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवति। कस्मात्? अनृतदोषात् पुत्रकामेष्टौ। 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इति नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते। दृष्टार्थस्य वाक्यस्यानृतत्वात् अदृष्टार्थमपि वाक्यम्—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते।

२. विहितव्याघातदोषाच्च—हवने 'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम्' इति विधाय, विहितं व्याहन्ति-'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति[१]'। व्याघाताच्चान्यतरन्मिथ्येति।

३. पुनरुक्तदोषाच्च-अभ्यासे देश्यमाने 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति पुनरुक्तदोषो भवति। पुनरुक्तं च प्रमत्तवाक्यमिति। तस्मादप्रमाणं शब्दोऽनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य इति॥ ५८ ॥

न; कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्॥ ५९ ॥

पूर्वपक्ष—पुत्रकामयाग, हवन तथा अभ्यास में—

मिथ्यात्व, विरोध तथा पुनरुक्ति दोष होने से शब्द में प्रामाण्य नहीं॥ ५८ ॥

१. सूत्र में महर्षि ने 'तस्य' पद से शब्दविशेष का ग्रहण किया है। शब्द का प्रामाण्य सम्भव नहीं है; अनृत (=मिथ्या) दोष होने से, जैसे पुत्रकामेष्टि में। 'पुत्र की इच्छा रखने वाला पुरुष पुत्रकामयज्ञ करे'—यह वाक्य है, यहाँ यज्ञ के होते पुत्र जन्म नहीं दिखायी देता। यों जब उस वेद में दृष्टार्थक वाक्य ही मिथ्या है तो वहाँ के अदृष्टार्थक वाक्य—'स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे' में भी मिथ्यात्वकल्पना अनुमान से हो सकती है।

२. विहित के विरोध से भी शब्द प्रमाण नहीं है। जैसे हवन-प्रसङ्ग में 'उदित (सूर्य के रेखामात्र उदय होने पर) में हवन करे, अनुदित (रात्रि का सोलहवाँ भाग, जिसमें तारागण अस्त न हुए हों) में हवन करे, समयाध्युषित (प्रभात का वह समय जिसमें तारागण अस्त हो चुका हो, परन्तु सूर्योदय न हुआ हो) में हवन करे'—यह विधानकर अन्यत्र उसका विरोध किया जाता है—'जो उदित में हवन करता है, उसकी आहुति को श्याव (श्वान) खा जाता है (वह आहुति लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाती), जो अनुदित में हवन करता है, उसकी आहुति को शबल (श्वान) खा जाता है; जो समयाध्युषित में हवन करता है, उस आहुति को वे दोनों (श्वान) मिलकर खा जाते हैं' (उसे लक्ष्यतक नहीं पहुँचने देते)। ये दोनों उक्त वाक्य परस्परविरुद्ध हैं, अतः इनमें से कोई एक मिथ्या है।

३. शब्द प्रमाण मानने पर पुनरुक्त दोष भी आता है। जैसे—एकादश सामिधेनी के पञ्चदशत्वबोधक अभ्यास (आवृत्तिगणना) के प्रसङ्ग में—'पहली को तीन बार तथा अन्तिम को तीन बार आवृत्त करता है'। यह अभ्यास पुनरुक्तदोषसम्पन्न है। पुनरुक्त दोष प्रमत्तों के वाक्य में मिलता है, ऋषि-वाक्य में कैसे आया! यदि है तो वे भी प्रमत्त हैं, उनका वाक्य प्रमाण कैसे होगा? अतः यह सिद्ध हुआ कि अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्त दोषों के कारण शब्द प्रमाण नहीं है॥ ५८ ॥

---

१. अत्र— 'द्वौ श्वानौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ।
ताभ्याम्पिण्डं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ॥'
इति बलिमन्त्रोऽनुसन्धेयः।

नानृतदोषः पुत्रकामेष्टौ, कस्मात्? कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्। इष्ट्या पितरौ संयुज्यमानौ पुत्रं जनयत इति। इष्टिः करणं साधनम्, पितरौ कर्तारौ, संयोगः कर्म, त्रयाणां गुणयोगात् पुत्रजन्म। वैगुण्याद्विपर्ययः। इष्ट्याश्रयं तावत्कर्म वैगुण्यं समीहाभ्रेषः[१], कर्तृवैगुण्यम्-अविद्वान् प्रयोक्ता कपूयाचरणश्च। साधनवैगुण्यम्-हविरसंस्कृतमुपहतमिति, मन्त्रा न्यूनाधिकाः स्वर-वर्णहीना इति, दक्षिणा दुरागता हीना निन्दिता चेति। अथोपजनाश्रयं कर्मवैगुण्यम्—मिथ्यासम्प्रयोगः। कर्तृवैगुण्यम्—योनिव्यापादो बीजोपघातश्चेति। साधनवैगुण्यम् इष्टावभिहितम्। लोके च 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इति विधिवाक्यम्, तत्र कर्मवैगुण्यम्-मिथ्यामन्थनम्, कर्तृवैगुण्यम्-प्रज्ञाप्रयत्नगतः प्रमादः, साधनवैगुण्यम्-आर्द्रं सुषिरं दार्विति। तत्र फलं न निष्पद्यत इति नानृतदोषः; गुणयोगेन फलनिष्पत्तिदर्शनात्। न चेदं लौकिकाद्भिद्यते-'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इति॥ ५९ ॥

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्॥ ६० ॥

न व्याघातो हवनः-इत्यनुवर्त्तते। योऽभ्युपगतं हवनकालं भिनति ततोऽन्यत्र जुहोति,

---

इस पूर्वपक्ष का **समाधान** करते हैं—

अनृत दोष नहीं; क्योंकि कर्मकर्तृसाधनविपर्यय से (वहाँ फलादर्शन है)॥ ५९ ॥

पुत्रकामेष्टिप्रतिपादक श्रुति में फलदर्शन न होने से अनृत दोष दिया था, वह नहीं है; क्योंकि वहाँ कर्म, कर्ता, तथा करण का विपर्यय हो सकता है। यज्ञ से माता पिता संयुक्त होकर पुत्र पैदा करते हैं—अतः यज्ञ, साधन (करण) हुआ, माता पिता कर्ता हुए, उनका संयोग कर्म हुआ, तीनों के उचित सम्बन्ध से पुत्र-जन्म होता है, उनके विपर्यय में नहीं होता। यज्ञाश्रित कर्मविपर्यय जैसे—यज्ञ का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान न करना। कर्तृविपर्यय जैसे—माता पिता अविद्वान् (वैदिक विधि के ज्ञाता न) हों, निन्दित आचरण वाले हों। साधनविपर्यय जैसे—हवि असंस्कृत हो, या कुत्ता बिल्ली आदि द्वारा अपवित्र कर दी गयी हो; मन्त्र स्वरवर्णहीन तथा न्यूनाधिक पढ़े जाँय। यज्ञ के बाद दी जाने वाली दक्षिणा का धन जूआ, चोरी या रिश्वतखोरी से कमाया हुआ हो; कम हो, या सुवर्ण के अतिरिक्त निषिद्ध धातु के रूप में दिया जाय।

पुत्रोत्पादनाश्रित कर्मविपर्यय जैसे—मिथ्यासम्प्रयोग (अनुचित सम्बन्ध)। कर्तृविपर्यय जैसे—मातृयोनि में या पिता के शुक्र में खराबी। साधनविपर्यय तो इष्टिप्रसङ्ग में कह ही दिया गया।

लोक में भी यह विपर्यय देखते हैं—'अग्नि की इच्छा रखने वाला अरणिमन्थन करे' (दो लकड़ियों को रगड़े) यह विधिवाक्य है। यहाँ कर्मविपर्यय जैसे—गलत ढंग से उनको रगड़ना। कर्तृविपर्यय जैसे—रगड़ने वाले का प्रज्ञा या प्रयत्न में प्रमाद करना। साधन-विपर्यय जैसे—लकड़ियाँ गीली या पोली (दीमक लगी हुई) हों। यहाँ भी ऐसी स्थितियों में अग्नि नहीं बन पाती; क्योंकि यथोचित सम्बन्ध से ही फलनिष्पत्ति देखी जाती है।

पूर्वपक्षी का दिया हुआ 'पुत्रेच्छु पुत्रेष्टि से यज्ञ करे' उदाहरण में दृष्ट उदाहरण से भिन्न नहीं, अतः उसमें अनृत दोष देकर शब्द को अप्रमाण नहीं कह सकते॥ ५९ ॥

स्वीकार करके पुनः भिन्न काल में हवन करनेवाले को उक्त दोष कहने से (व्याघातदोष नहीं है)॥ ६० ॥

वचनव्याघात दोष भी नहीं है; क्योंकि जो अभ्युपेत हवनकाल को छोड़कर अन्य काल में

---

१. समीहा=तदङ्गसमिदादिकर्मानुष्ठानम्, तस्या भ्रेषः=भ्रंशः, अननुष्ठानमिति यावत्।

तत्रायमभ्युपगतकालभेदे दोष उच्यते—'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति'; तदिदं विधिभ्रेषे निन्दावचनमिति ॥ ६० ॥

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ६१ ॥

पुनरुक्तदोषोऽभ्यासे नेति प्रकृतम्। अनर्थकोऽभ्यासः=पुनरुक्तम्, अर्थवानभ्यासः=अनुवादः। योऽयमभ्यासः 'त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इत्यनुवाद उपपद्यते; अर्थवत्त्वात्। त्रिर्वचनेन हि प्रथमोत्तमयोः पञ्चदशत्वं सामिधेनीनां भवति। तथा च मन्त्राभिवादः[1]—'इदमहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण बाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' इति पञ्चदशसामिधेनीर्वज्रं मन्त्रोऽभिवदति, तदभ्यासमन्तरेण न स्यादिति ॥ ६१ ॥

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६२ ॥

प्रमाणं शब्दो यथा लोके ॥ ६२ ॥

विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः—

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६३ ॥

त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि—विधिवचनानि, अर्थवादवचनानि, अनुवादवचनानीति ॥ ६३ ॥

तत्र—

विधिर्विधायकः ॥ ६४ ॥

हवन करता है, ऐसे अभ्युपगत कालभेद में यह दोष कहा गया है—'श्याव श्वा इसकी आहुति को खा डालता है जो उदित समय में हवन करता है'—यह विधिभ्रंश में निन्दापरक श्रुति है। इससे वचनव्याघात नहीं होता (अतः यह वचनव्याघात शब्दाप्रामाण्य में हेतु नहीं कहा जा सकता) ॥ ६० ॥

अनुवादोपपादन होने से (भी पुनरुक्त दोष नहीं है) ॥ ६१ ॥

अभ्यास में पुनरुक्त दोष नहीं है—यह प्रसङ्ग चल रहा है। निरर्थक अभ्यास (आवृत्ति) पुनरुक्त होता है, परन्तु सार्थक अभ्यास अनुवाद कहलाता है। 'प्रथम की तीन आवृत्ति तथा अन्तिम की तीन आवृत्ति करे'—इस श्रुति में यह अभ्यास सार्थक होने से अनुवाद है; क्योंकि प्रथम तथा अन्तिम के त्रिरावर्तन से सामिधेनियों में पञ्चदशत्व सिद्ध हो पायगा। जैसा कि मन्त्राभिवाद है—'मैं इस पञ्चदश सामिधेनीरूप वाग्वज्र से शत्रु को मारूँगा, जो हमसे द्वेष करता है, या जिससे हम द्वेष करते हैं।' यहाँ पञ्चदश सामिधेनीरूप वाग्वज्र का मन्त्र अभिवदन कर रहा है। यह पञ्चदशत्व एकादश सामिधेनियों में आवृत्ति के विना नहीं बन सकता। अतः अनुवाद सार्थक है ॥ ६१ ॥

वाक्यविभाग के अर्थवान् होने से भी शब्द प्रमाण है ॥ ६२ ॥

शब्द (वेद-वाक्य) प्रमाण है, सार्थक विभागवान् होने से, जैसे—लोक में (मन्त्रादि-वाक्य) ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणवाक्यों का विभाग तीन प्रकार का है—

१. विधिवचन, २. अर्थवादवचन तथा ३. अनुवादवचन—यों विनियोग होने से ॥ ६३ ॥

ब्राह्मणाख्य श्रुतिवाक्यों का विधिवचन, अर्थवादवचन तथा अनुवादवचन—यों तीन प्रकार का विनियोग है ॥ ६३ ॥

वहाँ—

---

१. अभि मुख्याय कर्मणे प्रवृत्तये वादो वाक्यमित्यर्थः।

यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु=नियोगः, अनुज्ञा वा, यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि ॥ ६४ ॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६५ ॥

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः, सम्प्रत्ययार्था—स्तूयमानं श्रद्दधीतेति। प्रवर्त्तिका च, फलश्रवणात् प्रवर्तते—'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाऽऽप्नोति सर्वं जयति' इत्येवमादि।

अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्था—निन्दितं न समाचरेदिति। 'स एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते[1] पतत्ययमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा[1]' इत्येवमादि।

अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। 'हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिधारयन्ति अथ पृषदाज्यम्[2], तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिधारयन्ति, अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यमित्येवमभिदधति' इत्येवमादि।

ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति। 'तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तोममस्तौषन् योने यज्ञं प्रतनवामहे' इत्येवमादि।

विधायक (प्रवर्तक) वाक्य को 'विधि' कहते हैं ॥ ६४ ॥

उनमें जो वाक्य विधायक है, प्रेरक (प्रवृत्तिहेतु) है, उसे 'विधि' कहते हैं। विधिवाक्य नियोग (आदेशात्मक), तथा अनुज्ञा (कामचारात्मक) वाक्य हैं, जैसे 'स्वर्गेच्छुक अग्निहोत्र हवन करे' इत्यादि वाक्य ॥ ६४ ॥

स्तुतिवाक्य, निन्दावाक्य, परकृतिवाक्य तथा पुराकल्पवाक्य अर्थवाद है ॥ ६५ ॥

विधि की फलोत्कर्षबोधक प्रशंसा ही 'स्तुति' है। वह स्तुति उन मन्त्रों में साधारणजनों का विश्वास स्थापन के लिये होती है कि जिसकी स्तुति की जा रही है, उसमें वे श्रद्धा करें तथा तदनुसार कर्म करें। विधि का स्तुतिपरक फल सुन कर मनुष्य उधर प्रवृत्त हो सकता है। जैसे 'विश्वजिता यजेत' इस विधिवाक्य का स्तुतिवाक्य है—'देवगण सर्वविजयी हो गये, उन्होंने सब को जीत लिया, (अतः) सर्वप्राप्ति (वशीकार) के लिये, सर्वविजय के लिये (यह विश्वजित् यज्ञ है) इससे सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, सब को जीता जा सकता है'—आदि।

अनिष्ट फल को बतलानेवाले वाक्य निन्दावाक्य हैं, वे उस निन्दित कर्म के निषेधक हैं। जैसे—'यों कहिये कि यह ज्योतिष्टोमयज्ञ ही सब यज्ञों में प्रथम (मूर्धन्य) है, जो इस यज्ञ को न कर अन्य (विधि) से यज्ञ करता है, वह गर्त में ही गिरता है, उसका किया हुआ वह अन्य यज्ञ विना फल दिये ही नष्ट हो जाता है या वह अन्यफलदृक् यष्टा असमय में मर जाता है' इत्यादि।

अन्यकर्तृक विरोधक विधिवाक्य 'परकृति' अर्थवाद कहलाता है। जैसे—'पहले वपाहोम कर अभिधारण करे पश्चात् पृषदाज्य अभिधारण करे। यहाँ चरकशाखा के याज्ञिक पृषदाज्य (दधिसर्पि) का पहले अभिधारण करते हैं, वे कहते हैं कि पृषदाज्य अग्नि के प्राण हैं'।

इतिहाससमिश्रित विधिवाक्य 'पुराकल्प' अर्थवाद कहलाता है। जैसे—'ब्राह्मणों ने प्राचीन

१-१. 'गर्तपत्यमेव तज्जीयते वा प्रवामीयते वा' इति शावरभाष्योद्धृतः पाठः। अस्य ''गर्तपतनं यथा भवति यथैव जीयते, ज्या वयोहानौ''—इति व्याख्या।

२. 'पृषदाज्यं सदध्याज्ये'-इति अमरकोशः (२.७.२४)।

कथं परकृतिपुराकल्पावर्थवादाविति? स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसम्बन्धाद् विध्याश्रयस्य द्योतनादर्थवादाविति॥ ६५॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः॥ ६६॥

विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादः, अपरोऽर्थानुवादः। यथा पुनरुक्तं द्विविधम्, एवमनुवादोऽपि। किमर्थं पुनर्विहितमनूद्यते? अधिकारार्थम्। विहितमधिकृत्य स्तुतिर्बोध्यते, निन्दा वा, विधिशेषो वाऽभिधीयते। विहितानन्तरार्थोऽपि चानुवादो भवति। एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम्।

लोकेऽपि च विधिः, अर्थवादः, अनुवाद इति च त्रिविधं वाक्यम्। 'ओदनं पचेत्' इति विधिवाक्यम्। अर्थवादवाक्यम्-'आयुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम्'। अनुवादः-पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः, क्षिप्रं पच्यतामिति वा, अङ्ग पच्यतामित्यध्येषणार्थम्, पच्यतामेवेति चावधारणार्थम्।

यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वम्, एवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीति॥ ६६॥।

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः॥ ६७॥

पुनरुक्तमसाधु साधुरनुवादः-इत्ययं विशेषो नोपपद्यते, कस्मात्? उभयत्र हि प्रतीतार्थः शब्दोऽभ्यस्यते, चरितार्थस्य शब्दस्याभ्यासादुभयमसाध्विति?॥ ६७॥

काल में इस बहिष्पवमान सामस्तोममन्त्र की इसीलिये स्तुति की कि इससे वे अपने यज्ञों का विस्तार कर पावें'—यहाँ पुराकाल के ब्राह्मणों द्वारा बहिष्पवमान सामस्तोम मन्त्र की स्तुति द्वारा इसका विधान बतलाया गया है।

परकृति, तथा पुराकल्प अर्थवाद कैसे हैं? ये दोनों स्तुति या निन्दा वाक्य से अभिसम्बद्ध होकर विध्याश्रित किसी अर्थ का द्योतन कराने के कारण अर्थवाद हैं॥ ६५॥

विधिविहित का अनुवचन अनुवादवाक्य है॥ ६६॥

विधि का अनुवचन, तथा विहित का अनुवचन 'अनुवाद' कहलाता है। इनमें प्रथम शब्दानुवाद, तथा द्वितीय अर्थानुवाद है। जैसे 'पुनरुक्त' दो प्रकार का होता है उसी प्रकार अनुवाद भी दो प्रकार का है। यहाँ विहित का अनुवाद किसलिये है? अधिकार (फलप्राप्ति के लिये साधनप्रवृत्ति) के लिये। अर्थात् विहित को लेकर जिससे स्तुति, निन्दा या विधिशेष बतलाया जाय। विहितानन्तर कर्तव्यबोधन के लिये भी अनुवाद होता है। इसी तरह अन्य उत्प्रेक्षा भी कर लेनी चाहिये।

लोक में भी, विधि, अर्थवाद तथा अनुवाद यों तीन प्रकार का वाक्य होता है। 'ओदन पकाओ' यह विधिवाक्य है। अर्थवाद वाक्य है—'आयु, तेज, बल, सुख, प्रतिभा सब कुछ अन्न में प्रतिष्ठित है'। अनुवादवाक्य है—'आप पकाइये, पकाइये'। 'पकाइये' यह आवृत्ति, या 'जल्दी पकाइये'। 'अरे, पकाओ' यह अध्येषणार्थक अनुवाद है, तथा 'पकाइये ही'—यह अवधारणार्थक अनुवादवाक्य है।

जैसे लौकिक वाक्य में विभाग द्वारा अर्थग्रहण होने से वह प्रमाण है, उसी तरह वेदवाक्यों का भी विभाग से अर्थग्रहण होने से उसमें प्रामाण्य मानना उचित ही है॥ ६६॥

शब्दाभ्यासोपपादनमात्र होने से अनुवाद और पुनरुक्त में कोई अन्तर नहीं?॥ ६७॥

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः॥ ६८॥

नानुवादपुनरुक्तयोरविशेषः। कस्मात्? अर्थवतोऽभ्यासस्यानुवादभावात्। समानेऽभ्यासे पुनरुक्तमनर्थकम्। अर्थवानभ्यासोऽनुवादः, शीघ्रतरगमनोपदेशवत्। शीघ्रं शीघ्रं गम्यताम्, शीघ्रतरं गम्यतामिति क्रियातिशयोऽभ्यासेनैवोच्यते। उदाहरणार्थं चेदम्। एवमन्योऽप्यभ्यासः। 'पचति पचति' इति क्रियानुपरमः। 'ग्रामो ग्रामो रमणीयः' इति व्याप्तिः। 'परि परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः' इति परिवर्जनम्। 'अध्यधिकुड्यं निषण्णम्' इति सामीप्यम्। 'तिक्तं तिक्तम्' इति प्रकारः। एवमनुवादस्य स्तुतिनिन्दाशेषविधिष्वधिकारार्थता, विहितानन्तरार्थता चेति॥ ६८॥

किं पुनः प्रतिषेधहेतूद्धारादेव शब्दस्य प्रमाणत्वं सिध्यति? न; अतश्च—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्॥ ६९॥

किं पुनरायुर्वेदस्य प्रामाण्यम्? तत्तदायुर्वेदेनोपदिश्यते-इदं कृत्वेष्टमधिगच्छति, इदं वर्जयित्वाऽनिष्टं जहाति, तस्यानुष्ठीयमानस्य तथाभावः सत्यार्थताऽविपर्ययः।

मन्त्रपदानां च विषभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभाव एतत् प्रामाण्यम्। किं कृतमेतत्? आप्तप्रामाण्यकृतम्। किं पुनराप्तानां प्रामाण्यम्? साक्षात्कृतधर्मता, भूतदया,

---

'पुनरुक्त दोष है, तथा अनुवाद सार्थक होने से समीचीन है'—यह विभाजन ठीक नहीं; क्योंकि दोनों में जिसका अर्थ पहले से जान लिया गया है, ऐसा शब्द ही दुहराया जाता है। चरितार्थ शब्द के दुहराये जाने से दोनों ही निरर्थक हैं?॥ ६७॥

अधिक शीघ्र चलने के आदेश की तरह अनुवाद से पुनरुक्त की समानता नहीं है॥ ६८॥

अनुवाद और पुनरुक्त में समानता नहीं; क्योंकि सार्थक आवृत्ति ही अनुवाद कहलाती है। निष्प्रयोजन आवृत्ति में पुनरुक्त निरर्थक होता है, पर सार्थक अभ्यास तो अनुवाद ही होगा। जैसे—'जल्दी जल्दी चलिये, और जल्दी चलिये'—यहाँ गमनक्रियातिशय अभ्यास (आवृत्ति) से ही कहा जा सकता है। यह एक उदाहरण दे दिया, अन्य उदाहरणों की भी कल्पना कर लेना चाहिये। 'पकाता है, पकाता है' यह अभ्यास क्रियासातत्य, 'इस देश का ग्राम ग्राम रमणीय है' यह व्याप्ति, 'त्रिगर्त देश से परे परे वर्षा हुई' यह त्रिगर्त्त में वृष्टिपरिवर्जन, 'दीवाल दीवाल पर बैठा हुआ' यह अभ्यास सामीप्य का बोधक है। 'तिक्त तिक्त' यह अभ्यास प्रकार (भेद) का बोधन कराता है।

इस प्रकार अनुवाद स्तुति, निन्दा, विधिशेष में तथा विहितानन्तरकर्तव्यता के बोधन कराने में कार्य आता है, अतः सार्थक है। (परन्तु पुनरुक्त, अर्थवान् न होने से दोषरूप है। अतः दोनों में कोई समानता नहीं है)॥ ६८॥

क्या पूर्वपक्षी द्वारा उठायी गयी आशङ्काओं के निवारण से ही शब्द प्रमाण सिद्ध हो जाता है? नहीं; इसलिये भी—

मन्त्र, आयुर्वेद के प्रामाण्य की तरह उसमें भी प्रामाण्य है; क्योंकि वह भी आप्तोपदेश है॥ ६९॥

आयुर्वेद का प्रामाण्य क्या है? यह आयुर्वेद उपदेश करता है—'यह कर इष्ट (स्वास्थ्य) को प्राप्त किया जा सकता है, या यह न कर अनिष्ट (रोग) से छुटकारा पाया जा सकता है'। इस उपदेश के अनुसार चलने से वैसा ही सत्यार्थ (अनुकूल कार्य) होता देखा गया है।

मन्त्रों से भी विष, भूत प्रेत, तथा टोना-टोटका का प्रतिषेध देखा जाने से, मन्त्रों की सत्यार्थता (यथार्थता) स्पष्ट है, अतः उनमें प्रामाण्य है। यह प्रामाण्य उनमें कैसे आता है? आप्तोपदेश के प्रामाण्य

यथाभूतार्थचिख्यापयिषेति। आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माणः इदं हातव्यम्, इदमस्य हानिहेतुः, इदमस्याधिगन्तव्यम्, इदमस्याधिगमहेतुः—इति भूतान्यनुकम्पन्ते। तेषां खलु वै प्राणभृतां स्वयमनवबुद्ध्यमानानां नान्यदुपदेशादवबोधकारणमस्ति। न चानवबोधे समीहा, वर्जनं वा, न वाऽकृत्वा स्वस्तिभावः, नाप्यस्यान्य उपकारकोऽप्यस्ति। 'वयमेभ्यो यथादर्शनं यथाभूतमुपदिशामस्त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं हास्यन्त्यधिगन्तव्यमेवाधिगमिष्यन्ति—इत्येवमाप्तोपदेशः। एतेन त्रिविधेनाप्तप्रामाण्येन परिगृहीतोऽनुष्ठीयमानोऽर्थस्य साधको भवति, एवमाप्तोपदेशः प्रमाणम्। एवामाप्ताः प्रमाणम्।

दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनायुर्वेदेनादृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाणमिति। आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वादिति। अस्यापि चैकदेशः 'ग्रामकामो यजेत' इत्येवमादिर्दृष्टार्थस्तेनानुमातव्यमिति।

लोके च भूयानुपदेशाश्रयो व्यवहारः। लौकिकस्याप्युपदेष्टुरुपदेष्टव्यार्थज्ञानेन परानुजिघृक्षया यथाभूतार्थचिख्यापयिषया च प्रामाण्यं तत्परिग्रहादाप्तोपदेशः प्रमाणमिति।

द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां दृष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्-इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति।

से। आप्तोदेश में क्या प्रामाण्य है? उस विषय का साक्षात्कार, प्राणियों पर दया (उनके अहित की परिहारेच्छा) तथा यथार्थकथन की इच्छा। आप्त जन उस विषय को साक्षात् किये रहते हैं और 'यह छोड़ देना चाहिये, यह इसके छोड़ देने में कारण है' या 'यह ग्रहण करना चाहिये, यह इसके ग्रहण में कारण है'—यों उपदेश द्वारा वे साधारण जनों पर दया करते हैं! वे साधारण प्राणी स्वयं हिताहित को नहीं समझ पाते, उपदेश विना उन्हें समझने में दूसरा कोई कारण नहीं। समझ आये विना हित की इच्छा तथा अहित का परिवर्जन नहीं बनेगा, और विना हिताचरण (औषधादि) किये स्वस्तिभाव (स्वास्थ्य आदि कल्याण) नहीं होगा, उसका कोई अन्य साथी भी नहीं है जो उसका हित सोच सके! तब वे आप्तपुरुष सोचते हैं कि 'हम इन निरीह प्राणियों को जैसा हमने देखा है वैसे सत्य का उपदेश करें ताकि ये हेय को छोड़ दें, अधिगन्तव्य को प्राप्त कर लें'। यही आप्तोपदेश है। इस तीन प्रकार के आप्त प्रामाण्य से परिगृहीत हो क्रियमाण वह आप्तोदेश प्रयोजन का साधन होता है। यों, हमारे मत में आप्तोपदेश और आप्त पुरुष दोनों प्रमाण हैं।

दृष्टार्थ आप्तोदेश आयुर्वेद से अदृष्टार्थक आप्तोदेश वेदभाग के प्रामाण्य का अनुमान कर लेना चाहिये; क्योंकि 'आप्तोपदेश' हेतु उभयत्र समान है। इस वेदभाग का भी 'ग्राम की इच्छा करने वाला यज्ञ करे'—यह एकदेश तो दृष्टार्थ ही है, इस दृष्टार्थ से भी अवशिष्ट अदृष्टार्थ में प्रामाण्य का अनुमान कर लेना चाहिये।

लोक में बहुत सा व्यवहार आप्तोपदेशाश्रित ही है। लौकिक उपदेष्टा के उपदेष्टव्य अर्थज्ञान से दूसरे प्राणियों पर अनुग्रहाकांक्षा से या उसकी यथाभूत अर्थ को बतलाने की इच्छा से उसके उपदेश में प्रामाण्य आता है, तथा उस उपदेश के अनुसार साधारणजनों द्वारा आचरण किया जाता है, अतः आप्तोपदेश प्रमाण है।

द्रष्टा तथा प्रवक्ता के उभयत्र समान होने से भी उस अदृष्टार्थ में प्रामाण्य का अनुमान कर लेना चाहिये। जो आप्त पुरुष वेदमन्त्रों के द्रष्टा तथा प्रवक्ता हैं, वे ही आयुर्वेद आदि के प्रवक्ता हैं, जब उनसे

नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्ययुक्तम्। शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं न; नित्यत्वात्। नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनाच्छब्दार्थव्यवस्थानुपपपत्तिः। नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेद्, न; लौकिकेष्वदर्शनात्। तेऽपि नित्या इति चेद्, न; अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादोऽनुपपन्नः। नित्यत्वाद्धि शब्दः प्रमाणमिति। अनित्यः स इति चेत्? अविशेषवचनम्। अनाप्तोपदेशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यमिति! यथानियोगं चार्थस्य प्रत्यायनाद् नामधेयशब्दानां लोके प्रामाण्यं नित्यत्वात् प्रामाण्यानुपपत्तिः। यत्रार्थे नामधेयशब्दो नियुज्यते लोके, तस्य नियोगसामर्थ्यात् प्रत्यायको भवति; न नित्यत्वात्।

मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम्। लौकिकेषु शब्देषु चैतत् समानमिति॥ ६९॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्॥

●

उपदिष्ट आयुर्वेदादि सत्य हैं तो उन्हीं द्वारा उपदिष्ट वेदमन्त्र भी सत्य होने चाहिये—यों अनुमान करना चाहिये।

वेदवाक्यों के नित्य होने से ही उनमें प्रामाण्य है, फिर यहाँ उन्हें आप्तोदेश मान कर उनमें प्रामाण्य सिद्ध करना अनुचित है? (तथा परस्परविरोधी भी है, क्योंकि जो नित्य है वह आप्तोपदिष्ट क्यों कर होगा?) शब्द का वाचकत्व (संकेत से बोधकत्व) हेतु से अर्थप्रतिपादन में प्रामाण्य है, न कि नित्यत्व हेतु से। केवल नित्यत्व मानने पर सबका सबसे ज्ञान होने से शब्द-अर्थ की 'इस शब्द का यह अर्थ है'—यह व्यवस्था नहीं बनेगी। अनित्य मानने पर उसमें वाचकत्व न बनें—ऐसी बात भी नहीं; क्योंकि अनित्य लौकिक शब्दों में भी अर्थ देखा जाता है, नित्यत्व नहीं। उन लौकिक शब्दों को भी नित्य मान लेने पर, उनमें से कुछ के अनाप्तोपदेश होने से जो अर्थवैपरीत्य देखा जाता है, वह अनुपपन्न होने लगेगा; क्योंकि नित्य होने से ही शब्द प्रमाण है! अनाप्तोदिष्ट 'शब्द अनित्य है' यह वचन तो लौकिक यथार्थ प्राकृत शब्दों में भी सङ्गत हो सकता है। लौकिक अनाप्तोपदेश ही अनित्य मानना है तो उसमें कोई हेतु दिखाना चाहिये। शब्द के साथ यथासंकेत अर्थ-ज्ञान होने से संज्ञाशब्दों का लोक में प्रामाण्य है। नित्यत्व के रहने से प्रामाण्य नहीं बनता। एवं च—लौकिक शब्द जिस अर्थ में संकेतित है, उसका वह ज्ञान करा देता है, न कि नित्य होने से ज्ञान कराता है।

अतीतानागत मन्वन्तर-युगान्तर में सम्प्रदायाभ्यास-प्रयोग से उनका निरन्तर बना रहना ही वेदों का नित्यत्व है। आप्तप्रामाण्य होने से उनका प्रामाण्य है—यह बात लौकिक वैदिक उभयविध शब्दों में समान है॥ ६९॥

वात्स्यायनीय न्यायभाष्य (सहित न्यायदर्शन) के द्वितीय अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त॥

[द्वितीयमाह्निकम्]

प्रमाणचतुष्ट्वपरीक्षाप्रकरणम् [१-१२]

[पूर्वपक्षः]

अयथार्थः प्रमाणोद्देश[1] इति मत्वाऽऽह—

न चतुष्ट्वम्; ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्॥ १॥

न चत्वार्येव प्रमाणानि, किं तर्हि? ऐतिह्यम्, अर्थापत्तिः, सम्भवः, अभावः-इत्येतान्यपि प्रमाणानि, तानि कस्मान्नोक्तानि?

'इति होचुः' इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम्—ऐतिह्यम्।

अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः। आपत्तिः=प्राप्तिः, प्रसङ्गः। यत्राभिधीयमानेऽर्थे योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः, यथा-मेघेष्वसत्सु वृष्टिर्न भवतीति। किमत्र प्रसज्यते? सत्सु भवतीति।

सम्भवो नामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणदन्यस्य सत्ताग्रहणम्, यथा-द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम्, आढकस्य सत्ताग्रहणात् प्रस्थस्येति।

अभावः=विरोधी, अभूतं भूतस्य, अविद्यमानं वर्षकर्म विद्यमानस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य प्रतिपादकम्, विधारके हि वाय्वभ्रसंयोगे गुरुत्वादपां पतनकर्म न भवतीति?॥ १॥

प्रमाणचतुष्टय की परीक्षा—सिद्धान्ती का किया हुआ प्रमाणों का नाम से परिगणन यथार्थ नहीं, ऐसा मानकर पूर्वपक्षी कहता है—

केवल चार ही प्रमाण नहीं; अपितु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव भी प्रमाण हैं?॥ १॥

शङ्का—चार ही प्रमाण नहीं; अपितु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव—ये भी प्रमाण हैं, इनका परिगणन क्यों नहीं किया?

'ऐसा किस ने कहा था'—यों वक्ता का नामनिर्देश न होते हुए जो प्रवाद (जनश्रुति) परम्परा चली आती है, उसे **ऐतिह्य** कहते हैं।

फल से आपादन (प्रत्ययविशेषप्रसक्ति) को **अर्थापत्ति** कहते हैं। आपत्ति=प्राप्ति, अर्थात् प्रसङ्ग। जहाँ अभिधीयमान अर्थ में अन्य अर्थ प्रसक्त हो उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे—'मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती'। यहाँ अन्य अर्थ प्रसक्त हुआ—'मेघों के होने पर वृष्टि होती है'।

सम्भव से तात्पर्य है 'अविनाभावी अर्थ की सत्ता के ग्रहण से अन्य की सत्ता का भी ग्रहण'। जैसे—द्रोण (परिमाणविशेष) की सत्ता के ग्रहण से आढक की सत्ता का ग्रहण, आढक की सत्ता के ग्रहण से प्रस्थ की सत्ता का ग्रहण।

अभाव कहते हैं विरोधी को, यथा भूत का विरोधी अभूत। जैसे—वर्षा का अविद्यमान होना विद्यमान वायु-मेघ के संयोग का प्रतिपादक है अर्थात् मेघ होने पर वृष्टि का अभाव बतलाता है कि धारणाविरोधी वायु-मेघ संयोग के गुरु होने से जल का पतन नहीं होगा?॥ १॥

---

[1] प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः, कणादसुगतौ पुनः। अनुमानं च तच्चापि साङ्ख्याः शब्दश्च ते उभे॥ न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन। अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकरा॥ अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥ इत्यभियुक्तोक्त्या प्रमाणविभाजकसंख्यायां संशय इति भावः।

सत्यम् एतानि प्रमाणानि, न तु प्रमाणान्तराणि। प्रमाणान्तरं च मन्यमानेन प्रतिषेध उच्यते। सोऽयम्—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावा-नर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः॥ २॥

अनुपपन्नः प्रतिषेधः। कथम्? 'आप्तोपदेशः शब्दः' इति, न च शब्दलक्षणमैतिह्याद् व्यावर्तते। सोऽयं भेदः सामान्यात् सङ्गृह्यत इति। प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानम्। तथा चार्थापत्तिसम्भवाभावाः। वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव।

अविनाभाववृत्त्या च सम्बद्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भवः, तदप्यनुमानमेव।

'अस्मिन् सतीदं नोपपद्यते' इति विरोधित्वे प्रसिद्धे कार्यानुत्पत्त्या कारणस्य प्रतिबन्धकमनुमीयते। सोऽयं यथार्थ एव प्रमाणोद्देश इति॥ २॥

अर्थापत्तिप्रामाण्यपरीक्षा

'सत्यमेतानि प्रमाणानि, न तु प्रमाणान्तराणि' इत्युक्तम्, अत्रार्थापत्तेः प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते। तथा हीयम्—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात्?॥ ३॥

असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीति सत्सु भवतीत्येतदर्थादापद्यते, सत्स्वपि चैकदा न भवति—सेयमर्थापत्तिरप्रमाणमिति?॥ ३॥

समाधान—अवश्य ये प्रमाण हैं; परन्तु प्रमाणान्तर नहीं हैं। प्रमाणान्तर मानकर हमारे पूर्वोक्त परिगणन का निषेध किया जा रहा है, यह उचित नहीं; क्योंकि—

शब्द में ऐतिह्य का तथा अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो जाने से, और सम्भव या अभाव के प्रमाणान्तर न होने से (प्रमाणचतुष्ट्व का निषेध कैसे होगा!)॥ २॥

यह परिगणन का निषेध नहीं बनता; क्योंकि हमने पीछे कहा है—'आप्तोदेश शब्द प्रमाण होता है' (१.१.७)। यह शब्द प्रमाण **ऐतिह्य** से व्यावृत्त नहीं होता। अतः यह ऐतिह्यरूप शब्द का भेद समानतया शब्द में ही अन्तर्भूत (संगृहीत) हो सकता है। प्रत्यक्ष द्वारा सम्बद्ध व्याप्यव्यापकभावापन्न अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रतिपादन करना अनुमान का कार्य है। आपके अर्थापत्ति, सम्भव, और अभाव भी यही कार्य करते हैं। वाक्यार्थज्ञान से अनभिहित अर्थ का विरोधी भाव से ज्ञान **अर्थापत्ति** कहलाता है, यह अनुमान ही तो है। अविनाभाववृत्ति से सम्बद्ध समुदाय-समुदायी के समुदाय से दूसरे अर्थ का ग्रहण होना **'सम्भव'** कहलाता है, यह भी अनुमान ही है। 'इसके होने पर यह नहीं होता'—ऐसे विरोधी प्रतिबन्धक के प्रसिद्ध होने पर कार्य की अनुपपत्ति से प्रतिबन्धक कारण का अनुमान होता है, अतः **'अभाव'** भी अनुमान ही है। इसलिये हमारा प्रमाणपरिगणन यथार्थ ही है॥ २॥

शङ्का—आपने कहा—'यद्यपि ये प्रमाण हैं, परन्तु प्रमाणान्तर नहीं हैं'; यहाँ अर्थापत्ति में प्रमाणत्वस्वीकृति हमें युक्तियुक्त नहीं लगी; क्योंकि यह—

अर्थापत्ति अप्रमाण है, अनैकान्तिक (व्यभिचार) होने से?॥ ३॥

'मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती' इस वाक्य से अर्थापत्ति द्वारा आप यह गृहीत करते हैं कि

नानैकान्तिकत्वमर्थापत्तेः;

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात्॥ ४॥

'असति कारणे कार्यं नोत्पद्यते' इति वाक्यात् प्रत्यनीकभूतोऽर्थः सति कारणे कार्यमुत्पद्यते इत्यर्थादापद्यते। अभावस्य हि भावः प्रत्यनीक इति। सोऽयं कार्योत्पादः सति कारणेऽर्थादापद्यमानो न कारणस्य सत्तां व्यभिचरति, न खल्वसति कारणे कार्यमुत्पद्यते, तस्मान्नानैकान्तिकी।

यत्तु सति कारणे निमित्तप्रतिबन्धात् कार्यं नोत्पद्यत इति? कारणधर्मोऽसौ, न त्वर्थापत्तेः प्रमेयम्। किं तर्ह्यस्याः प्रमेयम्? सति कारणे कार्यमुत्पद्यते इति योऽसौ कार्योत्पादः कारणस्य सत्तां न व्यभिचरति तदस्याः प्रमेयम्। एवं तु सत्यनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानं कृत्वा प्रतिषेध उच्यते इति। दृष्टश्च कारणधर्मो न शक्यः प्रत्याख्यातुमिति॥ ४॥

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात्॥ ५॥

अर्थापत्तिर्न प्रमाणमनैकान्तिकत्वादिति वाक्यं प्रतिषेधः। तेनानेनार्थापत्तेः प्रमाणत्वं प्रतिषिध्यते, न सद्भावः, एवमनैकान्तिको भवति। अनैकान्तिकत्वादप्रमाणेनानेन न कश्चिदर्थः प्रतिषिध्यते इति॥ ५॥

'मेघ होने पर वृष्टि होती है'; परन्तु सचाई यह है कि कभी कभी मेघ होने पर भी वृष्टि नहीं होती। अतः यह अर्थापत्ति प्रमाण नहीं बनता?॥ ३॥

उत्तर—अर्थापत्ति में व्यभिचार नहीं है; क्योंकि—

अनर्थापत्तिरूप उक्त उदाहरण में अर्थापत्त्यभिमान किया जाने से॥ ४॥

'कारण न होने पर कार्य नहीं होता' इस सिद्धान्त से 'कारण होने पर कार्य होता है'—यह विरोधी अर्थ अनुमान से ज्ञात हो जाता है। अभाव का भाव-विरोधी अर्थ है। यह कार्योत्पत्ति अनुमान से ज्ञात होती हुई कारण की सत्ता को व्यभिचरित नहीं करती। यह तो नहीं होता कि कारण न होने पर भी कार्य होता है। अतः अर्थापत्ति में अनैकान्तिकत्व दोष कैसे दिया जा सकता है!

यह भी होता है कि 'कारण होने पर भी निमित्तप्रतिबन्ध से कार्य उत्पन्न नहीं होता'? यह प्रतिबन्धक कारण-धर्म है। ऐसा उदाहरण अर्थापत्ति का प्रमेय नहीं बन सकता। तो इसका प्रमेय क्या है? 'कारण होने पर कार्य होता है' इस व्याप्ति से जो कार्योत्पत्ति होती है वह कारण की सत्ता को व्यभिचरित न करे तो वैसा स्थल अर्थापत्ति का प्रमेय बन सकता है। पूर्वपक्षी का उदाहरण अर्थापत्ति का नहीं था, परन्तु उसने उसे उदाहरण मानकर प्रामाण्य-प्रतिषेध में उपस्थित कर दिया। यदि एक बार कहीं प्रतिबन्धक कारणधर्म प्रत्यक्ष कर लिया गया हो तो उसका खण्डन नहीं किया जा सकता है॥ ४॥

व्यभिचारदोष होने से प्रतिषेध में प्रामाण्य भी नहीं बनता॥ ५॥

'अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, हेतु के अनैकान्तिक होने से'—यह पूर्वपक्षी ने कहा था। इस तरह वह अर्थापत्ति के प्रामाण्य का खण्डन कर सकता है, परन्तु उसकी सत्ता का खण्डन नहीं हुआ; (क्योंकि लोक में ऐसा नहीं देखा जाता कि जो अनैकान्तिक है, वह सब होता ही नहीं।) अतः यह प्रतिषेधहेतु स्वयं अनैकान्तिक बन गया। अनैकान्तिक होने के कारण इस प्रतिषेधहेतु से किसी अर्थ का प्रतिषेध कैसे किया जा सकता है!॥ ५॥

अथ मन्यसे—नियतविषयेष्वर्थेषु स्वविषये व्यभिचारो भवति, न च प्रतिषेधस्य सद्भावो विषयः? एवं तर्हि—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम्॥ ६॥

अर्थापत्तेरपि कार्योत्पादेन कारणसत्ताया अव्यभिचारो विषयः। न च कारणधर्मो निमित्तप्रतिबन्धात् कार्यानुत्पादकत्वमिति॥ ६॥

अभावप्रामाण्यसिद्धिः

अभावस्य तर्हि प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते। कथमिति?

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः?॥ ७॥

अभावस्य भूयसि प्रमेये लोकसिद्धे वैजात्यादुच्यते, नाभावप्रामाण्यम्; प्रमेयासिद्धेरिति॥ ७॥

अथायमर्थबहुत्वादर्थैकदेश उदाह्रियते—

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः॥ ८॥

तस्याभावस्य सिध्यति प्रमेयम्। कथम्? लक्षितेषु वासःसु अनुपादेयेषु उपादेयानामलक्षितानामलक्षणलक्षितत्वाद् लक्षणाभावेन लक्षितत्वादिति। उभयसन्निधावलक्षितानि वासांस्यानयेति प्रयुक्तो येषु वासस्सु लक्षणानि न भवन्ति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य चानयति। प्रतिपत्तिहेतुश्च प्रमाणमिति॥ ८॥

असत्यर्थे नाभाव इति चेन्न; अन्यलक्षणोपपत्तेः॥ ९॥

यदि यह कहो कि अर्थों में नियतविषयकत्व होने से स्वविषय में व्यभिचार बन सकता है, हम हेतु की सत्ता का निषेध नहीं कर रहे? तब भी—

प्रमाण माना जाने पर भी, वह प्रतिषेध अर्थापत्ति में सिद्ध नहीं होता॥ ६॥

अर्थापत्ति का भी 'कार्योत्पत्ति (वृष्टि) से कारणसत्ता (मेघसत्ता) का व्यभिचार न होना' विषय है। कारणधर्म (मेघसत्ता) प्रतिबन्धकनिमित्त होने पर कार्य (वर्षा) की उत्पत्ति न करे तो वह अर्थापत्ति का उदाहरण नहीं बन सकता॥ ६॥

शङ्का—अभाव को प्रमाण मानना आपका उचित नहीं;

अभाव प्रमाण नहीं है; क्योंकि उसका कोई प्रमेय नहीं मिलता?॥ ७॥

क्योंकि अभाव का बहुत सा प्रमेय तो लोकसिद्ध ही है, इसमें वैजात्य नहीं है, अतः अभाव प्रमाण से सिद्ध होने वाला कोई प्रमेय न मिलने से वह प्रमाण नहीं है?॥ ७॥

उत्तर—अर्थबहुत्व होने पर भी अर्थैकदेश ही उपस्थित किया जा रहा है—

लक्षितों में अलक्षणलक्षित होने से अलक्षित अभाव के प्रमेय बन जायेंगे॥ ८॥

उस अभाव का भी प्रमेय बन सकता है, कौन? किसी वस्तु का लक्षण न देने पर उस लक्षण से व्यतिरिक्त पदार्थ। जैसे—चिह्नित तथा अचिह्नित, उभयविध वस्त्रों के रहते कोई किसी से अचिह्नित वस्त्र मँगवाता है तो वह झटिति चिह्नित वस्त्रों को उनमें से हटा कर अचिह्नित वस्त्र ले आता है। यहाँ उन अचिह्नित वस्त्रों का ज्ञान कैसे हुआ? केवल चिह्न न होना ही उन अचिह्नित वस्त्रों को चिह्नित वस्त्रों से पृथक् कर रहा था, अतः चिह्नाभाव वाले जितने वस्त्र मिले उन्हें वह ले आया। यहाँ चिह्नाभाव ही उस ज्ञान में कारण बना, अतः अभाव का प्रामाण्य सिद्ध है॥ ८॥

यत्र भूत्वा किञ्चिन्न भवति तत्र तस्याभाव उपपद्यते। न चालक्षितेषु वासस्सु लक्षणानि भूत्वा न भवन्ति, तस्मात्तेषु लक्षणाभावोऽनुपपन्न इति? न; अन्यलक्षणोपपत्तेः। यथाऽयमन्येषु वासस्सु लक्षणानामुपपत्तिं पश्यति, नैवमलक्षितेषु। सोऽयं लक्षणाभावं पश्यन्नभावेनार्थं प्रतिपद्यत इति॥ ९॥

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः॥ १०॥

तेषु वासस्सु लक्षितेषु सिद्धिर्विद्यमानता येषां भवति, न तेषामभावो लक्षणानाम्। यानि च लक्षितेषु विद्यन्ते लक्षणानि, तेषामलक्षितेष्वभाव इत्यहेतुः। यानि खलु भवन्ति तेषामभावो व्याहत इति?॥ १०॥

न; लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः॥ ११॥

न ब्रूमः-यानि लक्षणानि भवन्ति तेषामभाव इति, किन्तु केषुचिल्लक्षणान्यवस्थितानि, अनवस्थितानि केषुचित्। अपेक्षमाणो येषु लक्षणानां भावं न पश्यति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यत इति॥ ११॥

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च॥ १२॥

अभावद्वैतं खलु भवति—प्राक् चोत्पत्तेरविद्यमानता, उत्पन्नस्य चात्मनो हानादविद्यमानता। तत्रालक्षितेषु वासस्सु प्रागुत्पत्तेरविद्यमानतालक्षणो लक्षणानामभावः, नेतर इति॥ १२॥

'अर्थ (सत्ता) के न होने पर अभाव नहीं बनेगा'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उस अभाव का अन्य लक्षणों से उपपादन हो सकता है॥ ९॥

जहाँ कुछ पहले है फिर वह न रहे, तब तो उसका अभाव बताना उचित है, परन्तु जो है ही नहीं उसका अभाव कैसे होगा? अचिह्नित वस्त्रों में तो कोई चिह्न था नहीं, फिर उनमें चिह्नाभाव का ज्ञान प्रयोक्ता को कैसे हो गया?—यह पूर्वपक्षी का मन्तव्य भी उचित नहीं; क्योंकि अन्य लक्षणों द्वारा वहाँ उस अभाव का ज्ञान बन सकता है। यथा—वह प्रयोक्ता चिह्नित वस्त्रों में जैसे लक्षण पाता है वैसे अचिह्नितों में नहीं पावे तो 'वैसे लक्षण न पाना' ही एक तरह से उस अभाव का लक्षण उपपन्न हो गया और अचिह्नित अर्थ का बोधक बन गया॥ ९॥

अलक्षितों में उस लक्षण का न होना अभाव की सिद्धि में हेतु नहीं बन सकता?॥ १०॥

उन चिह्नित वस्त्रों में जिन लक्षणों की विद्यमानता है, उनका अभाव तो है नहीं, फिर जो लक्षण (चिह्न) लक्षित (चिह्नित) में हैं, उनका अलक्षितों में भी अभाव बताना हेतु कैसे बनेगा? क्योंकि जो हैं उनका अभाव बताना तो विरुद्ध है?॥ १०॥

अहेतु नहीं है; लक्षणावस्थित की अपेक्षा से उसकी सिद्धि हो जायगी॥ ११॥

हम यह नहीं कहते कि 'जो लक्षण हैं, उनका अभाव है'; अपितु 'कुछ में लक्षणों के होने पर, कुछ अलक्षितों में व्यवस्थित (वृत्ति) भी रह जाते हैं, प्रयोक्ता जिन वस्तुओं में उन लक्षणों को नहीं देख पाता उनको लक्षणाभाव से जान लेता है'॥ ११॥

उत्पत्ति से पूर्व अभावोपपत्ति बन जाने से भी अहेतु नहीं है॥ १२॥

दो प्रकार का अभाव होता है—१. उत्पत्ति से पहले वस्तु का न रहना, तथा २. उत्पन्न के नाश से न रहना। यहाँ अचिह्नित वस्त्रों में उत्पत्ति से पूर्व पहले वाला अभाव है, न कि दूसरे प्रकार का।

शब्दानित्यत्वपरीक्षाप्रकरणम् [१३-३९]

'आप्तोपदेशः शब्दः' इति प्रमाणभावे विशेषणं ब्रुवता नानाप्रकारः शब्द इति ज्ञाप्यते। तस्मिन् सामान्येन विचारः—किं नित्यः, अथानित्य इति? विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः।

१. आकाशगुणः शब्दो विभुर्नित्योऽभिव्यक्तिधर्मक इत्येके।

२. गन्धादिसहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्यपरे।

३. आकाशगुणः शब्द उत्पत्तिनिरोधधर्मको बुद्धिवदित्यपरे।

४. महाभूतसंक्षोभजः शब्दोऽनाश्रित उत्पत्तिधर्मको निरोधधर्मक इत्यन्ये।

अतः संशयः—किमत्र तत्त्वमिति?

अनित्यः शब्द इत्युत्तरम्। कथम्?

[१]आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च॥ १३॥

आदिः=योनिः, कारणम्, आदीयते अस्मादिति। कारणवदनित्यं दृष्टम्। संयोग-विभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्य इति। का पुनरियमर्थदेशना-कारणवत्त्वादिति? उत्पत्ति-धर्मकत्वादनित्यः शब्द इति, भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति।

सांशयिकमेतत्—किमुत्पत्तिकारणं संयोगविभागौ शब्दस्य, आहोस्विदभिव्यक्ति-कारणम्? इत्यत आह-**ऐन्द्रियकत्वात्**। इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य ऐन्द्रियकः। किमयं व्यञ्जकेन

अतः यहाँ वस्तु की अविद्यमानता के लक्षण का अभाव सिद्ध हुआ, उससे प्रमेय का प्रतिपादन होने से वह प्रमाण है—यह सिद्ध हो गया॥ १२॥

शब्दानित्यत्वपरीक्षा—प्रमाण के लक्षण में 'आप्तोपदेश'—यह विशेषण देकर 'शब्द नाना प्रकार का होता है' यह बताया है। उस शब्द पर साधारणतः विचार कर रहे हैं कि क्या वह नित्य है, या अनित्य? क्योंकि विप्रतिपत्ति के विमर्शापेक्ष होने पर संशय हुआ ही करता है।

वहाँ कुछ (मीमांसक) विद्वान् शब्द को विभु, नित्य तथा अभिव्यक्तिधर्मक मानते हैं। कुछ (साङ्ख्यकार) विद्वान् 'शब्द गन्धादि के साथ द्रव्य में रहने वाला गन्धादि की तरह रहता हुआ अभिव्यक्तिधर्मक है'—ऐसा मानते हैं। दूसरे (वैशेषिक) विद्वान् शब्द को आकाश का गुण तथा उत्पत्तिनिरोधधर्मक मानते हैं। 'महाभूतों के संयोगविशेष से उत्पन्न होनेवाला शब्द अनाश्रित है, उत्पत्तिधर्मा भी है, और निरोधधर्मा भी'—ऐसा कुछ (बौद्ध) विद्वान् मानते हैं। अतः सन्देह होता है कि इनमें किसका मत समीचीन है?

'शब्द अनित्य है'—यह (नैयायिकों का) उत्तर है। कैसे?—

आदिमान् होने से, ऐन्द्रियक होने से, अनित्य की तरह उपचार होने से॥ १३॥

आदि से तात्पर्य है योनि, अर्थात् कारण—जिससे आदान (उत्पादन) किया जाय। जो कारणवान् है वह अनित्य देखा गया है। शब्द भी संयोगविभागज होने से कारणवान् है, अतः अनित्य है। यह क्या अर्थदेशना (अर्थप्राप्ति) हुई कि 'कारण होने से'? हमारा तात्पर्य है उत्पत्तिधर्मवान् होने से शब्द अनित्य है, तथा वह होकर नहीं होता है (विनष्ट हो जाता है), अतः विनाशधर्मक है! (१)

तब तो संशय उठ खड़ा होगा कि क्या ये संयोगविभाग शब्द के उत्पत्तिकारण हैं? या

---

१. वेदानां नित्यत्वे शाब्दप्रामाण्यप्रयोजकगुणविरहप्रयुक्ताप्रामाण्यसम्भवनिरासाय शब्दानित्यत्वप्रकरणमारभते सूत्रकारः।

समानदेशोऽभिव्यज्यते रूपादिवत्? अथ संयोगजाच्छब्दासन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यत इति?

संयोगनिवृत्तौ शब्दग्रहणान्न व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम्। दारुव्रश्चने दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते। न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं भवति, तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः, उत्पादके तु संयोगे संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नस्य ग्रहणम्-इति युक्तं संयोगनिवृत्तौ शब्दस्य ग्रहणमिति।

इतश्च शब्द उत्पद्यते, नाभिव्यज्यते; कृतकवदुपचारात्। तीव्रं मन्दमिति कृतकमुपचर्यते=तीव्रं सुखं मन्दं सुखम्, तीव्रं दुःखं मन्दं दुःखमिति; उपचर्यते च तीव्रः शब्दः, मन्दः शब्द इति।

व्यञ्जकस्य तथाभावाद् ग्रहणस्य तीव्रमन्दता रूपवदिति चेद्? न; अभिभवोपपत्तेः। संयोगस्य व्यञ्जकस्य तीव्रमन्दतया, शब्दग्रहणस्य तीव्रमन्दता भवति, न तु शब्दो भिद्यते; यथा—प्रकाशस्य तीव्रमन्दतया रूपग्रहणस्येति? तच्च नैवम्; अभिभवोपपत्तेः। तीव्रो भेरीशब्दो मन्दं तन्त्रीशब्दमभिभवति, न मन्दः। न च शब्दग्रहणमभिभावकम्, शब्दश्च न भिद्यते। शब्दे तु भिद्यमाने युक्तोऽभिभवः। तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यत इति।

अभिव्यक्तिकारण? इसलिये कहते हैं—ऐन्द्रियक होने से। इन्द्रिय के सन्निकर्ष से गृहीत होनेवाला 'ऐन्द्रियक' कहलाता है।

क्या यह शब्द व्यञ्जक (इन्द्रियसंयोग) से समानदेशस्थ एकाधिकरणवृत्ति होता हुआ रूप की तरह अभिव्यक्त होता है? या संयोगज शब्द से शब्दसन्तान होने पर श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यासन्न (सम्बद्ध) होता हुआ गृहीत होता है?

संयोगनिवृत्ति होने पर भी शब्द का ग्रहण होता है, अतः व्यञ्जक में समानाधिकरण हो कर उस समान देश का ग्रहण नहीं हो सकता। काष्ठछेदनकाल में परशुदारुसंयोग की निवृत्ति होनेपर भी दूरस्थ व्यक्ति को जैसे शब्द गृहीत होता ही है। व्यञ्जक के विना व्यङ्ग्य का ग्रहण नहीं हुआ करता। इसलिये यहाँ संयोग व्यञ्जक नहीं है।

संयोग को उत्पादक मानने पर संयोगज शब्द से शब्दधारा सन्तान के उत्पत्ति-क्रम से श्रोत्रप्रत्यासन्न शब्द का ग्रहण होता है, अतः संयोग की निवृत्ति होने पर शब्द का ग्रहण उपपन्न ही है। (२)

इस कारण भी शब्द अनित्य है कि वह उत्पन्न होता है, अभिव्यक्ति नहीं होता। यतः अनित्य में तीव्रता या मन्दता का आरोप किया जाता है। जैसे सुख में तीव्रतादि का आरोप कर 'सुख तीव्र है, मन्द है', 'दुःख तीव्र है, मन्द है' कहा जाता है, उसी प्रकार 'शब्द तीव्र है, मन्द है'—ऐसा उपचार होता है।

यदि कहें कि व्यञ्जक के वैसा होने से तीव्रतादि का ग्रहण होता है, रूप की तरह? यह नहीं कह सकते; क्योंकि शब्द स्वाविर्भाव से दूसरे आविर्भूत शब्द को दबाता है। तात्पर्य यह है—यदि कहो कि व्यञ्जक संयोग की तीव्रता मन्दता से शब्द का ग्रहण होने से उसमें तीव्रता मन्दता होती है, शब्द भिन्न नहीं होता; जैसे—प्रकाश की तीव्रता मन्दता से रूप का ग्रहण होता है? यह नहीं कह सकते; क्योंकि तीव्र भेरीशब्द मन्द वीणाशब्द को दबा देता है, न कि मन्द तीव्र को। शब्दज्ञान यहाँ

अभिभवानुपपत्तिश्च, व्यञ्जकसमानदेशस्याभिव्यक्तौ प्राप्त्यभावात्। 'व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते शब्दः' इत्येतस्मिन् पक्षे नोपपद्यतेऽभिभवः; न हि भेरीशब्देन तन्त्रीस्वनः प्राप्त इति।

अप्राप्तेऽभिभव इति चेत्? शब्दमात्राभिभवप्रङ्गः। अथ मन्येत-असत्यां प्राप्तावभिभवो भवतीति? एवं सति यथा भेरीशब्दः कञ्चित्तन्त्रीस्वनमभिभवति, एवमन्तिकस्थोपादानमिव दवीयःस्थोपादानानपि तन्त्रीस्वनानभिभवेद्; अप्राप्तेरविशेषात्। तत्र क्वचिदेव भेर्यां प्रणादितायां सर्वलोकेषु समानकालास्तन्त्रीस्वना न श्रूयेरन्निति। नानाभूतेषु शब्दसन्तानेषु सत्सु श्रोत्रप्रत्यासत्तिभावेन कस्यचिच्छब्दस्य तीव्रेण मन्दस्याभिभवो युक्त इति। कः पुनरयमभिभवो नाम? ग्राह्यसमानजातीयग्रहणकृतमग्रहणम्=अभिभवः। यथा-उल्काप्रकाशस्य ग्रहणार्हस्यादित्यप्रकाशेनेति॥ १३॥

न; घटाभावसामान्यनित्यत्वात् नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ?॥ १४॥

न खलु आदिमत्त्वादनित्यः शब्दः। कस्माद्? व्यभिचारात्। आदिमतः खलु घटाभावस्य दृष्टं नित्यत्वम्। कथमादिमान्? कारणविभागेभ्यो हि घटो न भवति। कथमस्य नित्यत्वम्? योऽसौ कारणविभागेभ्यो न भवति, न तस्याभावो भावेन कदाचिन्निवर्त्यत इति।

अभिभावक नहीं है; और शब्द आपके मत में भिन्न नहीं होता। हाँ! शब्द यदि भिन्न हो तब तो वैसा अभिभव युक्त है। इसलिये यह स्थिर हुआ कि शब्द उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त नहीं होता।

अभिभव भी अनुपपन्न होने लगेगा; क्योंकि व्यञ्जकसमानदेशवाले शब्द की प्राप्ति अन्यदीय शब्द की अभिव्यक्ति के समय उपपन्न नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'व्यञ्जक से समानदेशस्थ शब्द अभिव्यक्त होता है'—इस मत में अभिभव उपपन्न नहीं होता; क्योंकि भेरीशब्द से तन्त्रीशब्द का संयोग तो हुआ नहीं। अर्थात् भेरीसंयोग तन्त्री से नहीं है।

यदि संयोग न होने पर भी अभिभव मानोगे तो शब्दमात्र का अभिभव होने लगेगा। तात्पर्य यह है कि 'संयोग न होने पर अभिभव होता है'—ऐसा मानोगे तो ऐसी स्थिति में जैसे भेरीशब्द समीपस्थ वीणा शब्द को अभिभूत कर देता है, वैसे ही समीपस्थ अभिभव की तरह बहुत दूर से वीणाशब्द को अभिभूत करने लगेगा; क्योंकि संयोग की अप्राप्ति दोनों जगह समान है। तब कहीं एक भेरी के बजते ही उस समय संसार में सभी जगह के वीणाशब्द अभिभूत होने लगेंगे! उचित तो यह है कि नाना प्रकार के शब्दसन्तानों के रहते श्रोत्र के सन्निकर्ष में किसी शब्द के तीव्र होने पर मन्द शब्द अभिभूत हो जाता है। यह 'अभिभव' क्या चीज है? ग्रहण करने योग्य वस्तु के सजातीय ग्रहण से कृत अग्रहण ही 'अभिभव' कहलाता है। जैसे ग्रहणयोग्य उल्काप्रकाश का सूर्य के प्रकाश से अभिभव हो जाता है॥ १३॥ (३)

[गत सूत्र में दिखाये गये हेतुओं में व्यभिचार दिखाते हैं—]

घटाभावसामान्य के नित्य होने से तथा नित्य में अनित्यवद् आरोप से (वे तीनों हेतु शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं कर सकते?)॥ १४॥

आदि(कारण)मान् होने से शब्द अनित्य है—ऐसा नहीं है; क्योंकि वह हेतु व्यभिचरित है। आदिमान् घटाभाव का नित्यत्व देखा गया है। आदिमान् कैसे होता है? क्योंकि कारणों का विभाग हो जाने पर घट नहीं रहता। नित्य कौन होता है? कारणों के विभक्त होने पर जो नहीं होता, उसका अभाव किसी भी सत्ता से कभी निवृत्त नहीं हो सकता।

यदप्यैन्द्रियकत्वादिति? तदपि व्यभिचरति—ऐन्द्रियकं च सामान्यं नित्यं चेति।

यदपि कृतकवदुपचारादिति? एतदपि व्यभिचरति—नित्येष्वनित्यवदुपचारो दृष्टः। यथा हि—भवति वृक्षस्य प्रदेशः, कम्बलस्य प्रदेशः; एवमाकाशस्य प्रदेशः, आत्मनः प्रदेश इति भवतीति?॥ १४॥

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः॥ १५॥

नित्यमित्यत्र किं तावत्तत्त्वम्? अर्थान्तरस्यानुत्पत्तिधर्मकस्याऽऽत्महानानुपपत्तिर्नित्यत्वम्। तच्चाभावे नोपपद्यते, भाक्तं तु भवति यत्तत्रात्मानमहासीद्द् भूत्वा न भवति, न जातु तत्पुनर्भवति; तत्र नित्य इव नित्यो घटाभाव इत्ययं पदार्थ इति। तत्र यथाजातीयकः शब्दः, न तथाजातीयकं कार्यं किञ्चिन्नित्यं दृश्यत इत्यव्यभिचारः॥ १५॥

यदपि सामान्यनित्यत्वादिति? इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यमैन्द्रियकमिति—

सन्तानानुमानविशेषणात्॥ १६॥

नित्येष्वव्यभिचार इति प्रकृतम्। नेन्द्रियग्रहणसामर्थ्याच्छब्दस्यानित्यत्वम्, किं तर्हि? इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यत्वात् सन्तानानुमानं तेनानित्यत्वमिति॥ १६॥

यदपि नित्येष्वप्यनित्यवदुपचारादिति? न;

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानात्॥ १७॥

नित्येष्वप्यव्यभिचार इति।

ऐन्द्रियकत्व हेतु भी व्यभिचारी है; क्योंकि वह ऐन्द्रियक सामान्य है, वह नित्य देखा गया है, अतः आदिमत्त्व हेतु की तरह हा वह व्यभिचारी है।

कृतकवदुपचार हेतु भी अनित्य है; क्योंकि नित्यों में भी अनित्यत्व का उपचार देखा गया है, जैसे—'कम्बल का प्रदेश' (प्रान्त भाग), 'वृक्ष का प्रदेश'—ऐसा बोलते हैं; वैसे ही 'आकाश का प्रदेश' (प्रान्त भाग) 'आत्मा का प्रदेश'—यह भी बोला जाता है। अतः यह हेतु भी अनित्य है?॥ १४॥

तत्त्व तथा भाक्त में नानात्वरूप विभाग है, अतः उन हेतुओं में व्यभिचार नहीं है॥ १५॥

नित्य से आपका क्या तात्पर्य है? जिस अनुत्पत्तिधर्मा अर्थान्तर की आत्महानि न हो उसे हम 'नित्य' कहते हैं। नित्यत्व घटाद्यभाव में नहीं बनता, हाँ, भाक्तप्रयोग बन सकता है। जिसने अपने को ध्वस्त कर दिया है, जो होकर नहीं होता, वह कभी नहीं हो सकता—इसलिये यों 'नित्य' की तरह होने से नित्य घटाभाव का प्रयोग होता है। परन्तु जैसी जाति का शब्द है वैसी जाति का कार्य कहीं नित्य नहीं देखा जाता, अतः कृतकवदुपचार हेतु भी व्यभिचारी नहीं है॥ १५॥

तथा वह जो 'ऐन्द्रियकत्व' हेतु सामान्य में नित्यत्व का व्यभिचार बताया था? वह भी नहीं बनता; क्योंकि ऐन्द्रियक हेतु के—

सन्तानानुमान का विशेषण होने से॥ १६॥

नित्यत्व में अव्यभिचार है। हम यह नहीं कहते कि इन्द्रियग्रहणसामर्थ्य से शब्द में अनित्यत्व है, अपितु इन्द्रियसामीप्य होने पर ग्राह्य होने के कारण शब्द का सन्तानानुमान है, अतः उसमें अनित्यत्व है॥ १६॥

पूर्वपक्षी ने जो नित्यों में अनित्यवदुपचार बताया था? वह भी नहीं बनता; क्योंकि—

कारणद्रव्य का प्रदेशशब्द द्वारा अभिधान होने से॥ १७॥

एवमाकाशप्रदेशः, आत्मप्रदेश इति नात्राकाशात्मनोः कारणद्रव्यमभिधीयते, यथा कृतकस्य। कथं ह्यविद्यमानमभिधीयते, अविद्यमानता च? प्रमाणतोऽनुपलब्धेः। किं तर्हि तत्राभिधीयते? संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वम्। परिच्छिन्नेन द्रव्येणाकाशस्य संयोगो नाकाशं व्याप्नोति अव्याप्य वर्त्तत इति, तदस्य कृतकेन द्रव्येण सामान्यम्। न ह्यामलकयोः संयोग आश्रयं व्याप्नोति। सामान्यकृता च भक्तिः-आकाशस्य प्रदेश इति। अनेनात्मप्रदेशो व्याख्यातः।

संयोगवच्च शब्दबुद्ध्यादीनामव्याप्यवृत्तित्वमिति। परीक्षिता च तीव्रमन्दता शब्दतत्त्वं न भक्तिकृतेति। कस्मात् पुनः सूत्रकारस्यास्मिन्नर्थे सूत्रं न श्रूयते इति? शीलमिदं भगवतः सूत्रकारस्य—बहुष्वधिकरणेषु द्वौ पक्षौ न व्यवस्थापयति, तत्र शास्त्रसिद्धान्तात्तत्त्वावधारणं प्रतिपत्तुमर्हतीति मन्यते। शास्त्रसिद्धान्तस्तु न्यायसमाख्यातमनुमतं बहुशाखमनुमानमिति॥ १७॥

अथापि खलु 'इदमस्ति इदं नास्ति' इति कुत एतत्प्रतिपत्तव्यमिति? प्रमाणत उपलब्धेः, अनुपलब्धेश्चेति। अविद्यमानस्तर्हि शब्दः—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च॥ १८॥

प्रागुच्चारणान्नास्ति शब्दः, कस्मात्? अनुपलब्धेः। सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्यः? एतन्नोपपद्यते, कस्माद्? आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात्। अनेनावृत्तः शब्दो

नित्यों में व्यभिचार नहीं बनता। आकाशप्रदेश, आत्मप्रदेश—आदि में आत्मा या आकाश का कारणद्रव्य नहीं कहा जाता, जैसे वृक्षादि में पदार्थों का अनित्यत्व कहा जाता है। वहाँ अविद्यमान का क्या अभिधान करते हो, अविद्यमान की तो प्रमाण से उपलब्धि नहीं हो पाती? वहाँ केवल संयोग का अव्याप्यवृत्तित्व अभिहित है। परिच्छिन्न द्रव्य से आकाश का संयोग है, वह आकाश को व्याप्त कर नहीं रहता, अपितु अव्याप्त होकर रहता है। यह बात अनित्य द्रव्य के समान है, जैसे—दो आमलकों का संयोग अपने आश्रय को व्याप्त कर नहीं रहता, अतः यह—'आकाश का प्रदेश' यह सामान्यप्रयुक्त भाक्त प्रयोग है। इससे 'आत्मप्रदेश' शब्द का व्याख्यान भी समझ लें।

शब्द, बुद्धि, सुख-आदि की तरह संयोगवत्त्व अव्याप्यवृत्ति है। यो, शब्द की तीव्रता-मन्दता के बारे में निर्णय कर दिया गया, उसे पूर्वपक्षी 'आकाशप्रदेश' की तरह भाक्त नहीं कह सकता। फिर सूत्रकार ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कोई सूत्र क्यों न बनाया? यह भगवान् सूत्रकार का महत्त्व (बडप्पन) है कि वे अनेक विषयों में जानबूझ कर दो पक्ष का उत्थान नहीं करते। वहाँ वे समझते हैं कि जिज्ञासु शिष्य शास्त्रसिद्धान्तों के सहारे से अन्यतर पक्ष में तत्त्वनिर्णय जान सकता है। शास्त्रसिद्धान्त से उनका तात्पर्य है—न्यायशास्त्र में कथित, उन के (सूत्रकार) द्वारा अनुमोदित, अनेक प्रकार के अनुमान॥ १७॥

तो भी 'यह है, यह नहीं है' इसके जानने का क्या उपाय है? प्रमाणों द्वारा उपलब्धि या अनुपलब्धि न होने से उक्त उभय कोटियाँ जानी जा सकती हैं। अतः शब्द अविद्यमान हैं?

उच्चारण से पूर्व अनुपलब्धि होने से, तथा आवरणादिकों की अनुपलब्धि माने जाने से (वह शब्द अनित्य है)॥ १८॥

उच्चारण से पूर्व शब्द नहीं होता; क्योंकि उस समय उसकी उपलब्धि दिखायी नहीं देती। यदि यह कहें कि आवरणादि के कारण, होता हुआ शब्द भी अनुपलब्ध रहता है? तो यह नहीं बनता; क्योंकि उस समय आवरणादि को अनुपलब्धि के कारणरूप में नहीं देखते! जैसे 'शब्द इस आवरण

नोपलभ्यते, असन्निकृष्टश्चेन्द्रियव्यवधानाद्वा—इत्येवमादि अनुपलब्धिकारणं न गृह्यत इति। सोऽयमनुच्चारितो नास्तीति।

उच्चारणमस्य व्यञ्जकम्, तदभावात् प्रागुच्चारणादनुपलब्धिरिति? किमिदमुच्चारणं नामेति? विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठ्यस्य वायोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वादिप्रतिघातः, यथास्थानं प्रतिघाताद्वर्णाभिव्यक्तिरिति। संयोगविशेषो वै प्रतिघातः, प्रतिषिद्धं च संयोगस्य व्यञ्जकत्वम्, तस्मान्न व्यञ्जकाभावादग्रहणम्, अपि त्वभावादेवेति।

सोऽयमुच्चार्यमाणः श्रूयते, श्रूयमाणश्चाभूत्वा भवतीति अनुमीयते। ऊर्ध्वं चोच्चारणान्न श्रूयते-स भूत्वा न भवति, अभावान्न श्रूयत इति। कथम्? आवरणाद्यनुपलब्धेरित्युक्तम्। तस्मादुत्पत्तितिरोभावधर्मकः शब्द इति॥ १८॥

एवं च सति तत्त्वं पांशुभिरिवावाकिरन्निदमाह—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः?॥ १९॥

यद्यनुपलम्भादावरणं नास्ति, आवरणानुपलब्धिरपि तर्ह्यनुपलम्भान्नास्तीति तस्या अभावादप्रतिषिद्धमावरणमिति? कथं पुनर्जानीते भवान्-नावरणानुपलब्धिरुपलभ्यत इति? किमत्र ज्ञेयं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् समानम्! अयं खल्वावरणमनुपलभमानः प्रत्यात्ममेव

से आवृत है, अतः उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है, या तो वह सन्निकृष्ट नहीं है'—ऐसा अनुपलब्धिकारण भी प्रमाण से गृहीत नहीं होता। अतः अनुच्चरित अवस्था में शब्द नहीं है—यही मानना चाहिये।

'उच्चारण शब्द का व्यञ्जक है, उसके न होने से उस समय उपलब्धि नहीं हो पाती' ऐसा मान लें? तो हम पूछते हैं यह 'उच्चारण' क्या है? विवक्षाजनित प्रयत्न से उदरस्थ वायु का कण्ठ ताल्वादि में आकर टकराना। यह सङ्घट्टन (टक्कर) एक प्रकार का संयोग ही है, और संयोग के व्यञ्जकत्व का हम पीछे खण्डन कर चुके। इसलिये 'व्यञ्जक न होने से उस समय शब्द की उपलब्धि नहीं होती'—ऐसा नहीं, अपितु 'उस शब्द के अभाव से उस समय उसकी उपलब्धि नहीं होती'—यही मानना चाहिये।

'यह शब्द उच्चरित होता हुआ सुनायी देता है, सुनायी देता हुआ पहले न होकर होता है'—ऐसा उसके विषय में अनुमान होता है। इसी प्रकार उच्चारण के बाद वह सुनायी नहीं देता, अतः 'वह हो कर नहीं होता—यों, अभाव होने से नहीं सुनायी देता'—ऐसा अनुमान होता है। वह कैसे? आवरणादि की वहाँ (अनुच्चारणकाल में) उपलब्धि न होने से, यह बात अभी हम पीछे कह चुके हैं। अतः शब्द उत्पत्ति-विनाशधर्मा है—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ॥ १८॥

सचाई पर धूल डाल कर बात कुछ उलझाता हुआ-सा पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है—

उसकी अनुपलब्धि का ग्रहण न होने से आवरण की उपपत्ति हो सकती है?॥ १९॥

यदि आवरणकारणों के अनुपलम्भ से आवरण न होना मानते हो, तो अनुपलम्भ से आवरणानुपलब्धि भी नहीं माननी पड़ेगी, उसके अभाव में आवरण का प्रतिषेध कैसे होगा?

भाष्यकार पूछते हैं—आप कैसे जानते हैं कि आवरणानुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती! इसमें जानना क्या है? दोनों के ही प्रत्यात्मवेदनीय होने से बात समान है! यह आवरण को उपलब्ध न करता हुआ मन से यह समझ लेता है कि 'आवरण को नहीं प्राप्त कर पा रहा हूँ', जैसे दीवार से

संवेदयते—'नावरणमुपलभे' इति, यथा कुड्येनावृतस्यावरणमुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते, सेयमावरणोपलब्धिवदावरणानुपलब्धिरपि संवेद्यैवेति। एवं च सत्यपहतविषयमुत्तरवाक्यमस्तीति॥ १९॥

अभ्यनुज्ञावादेन तूच्यते जातिवादिना—

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात्?॥ २०॥

यथाऽनुपलभ्यमानाप्यावरणानुपलब्धिरस्ति, एवमनुपलभ्यमानमप्यावरणमस्तीति। यद्यभ्यनुजानाति भवान्—अनुपलभ्यमानावरणानुपलब्धिरस्तीति, अभ्यनुज्ञाय च वदति-नास्त्यावरणमनुपलम्भादित्येतद्। एतस्मिन्नप्यभ्यनुज्ञावादे प्रतिपत्तिनियमो नोपपद्यत इति?॥ २०॥

अनुपलम्भात्मकत्वादनुलब्धेरहेतुः॥ २१॥

यदुपलभ्यते तदस्ति, यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, इति अनुपलम्भात्मकमसदिति व्यवस्थितम्। उपलब्ध्यभावश्च-अनुपलब्धिरिति। सेयमभावत्वान्नोपलभ्यते। सच्च खल्वावरणम् तस्योपलब्ध्या भवितव्यम्, न चोपलभ्यते, तस्मान्नास्तीति। तत्र यदुक्तम्—'नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात्' इति अयुक्तमिति॥ २१॥

अथ शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिजानानः कस्माद्धेतोः प्रतिजानीते?

अस्पर्शत्वात्?॥ २२॥

अस्पर्शमाकाशं नित्यं दृष्टमिति, तथा च शब्द इति?॥ २२॥

व्यवहित आवरण के उपलब्ध होते हुए के बारे में मन से जान लेता है। उसी तरह आवरणानुपलब्धि का भी संवेदन स्वीकार करते ही हो, ऐसी स्थिति में आपका (जातिवादी का) उत्तर निःसार हो गया?॥ १९॥

जातिवादी अभ्यनुज्ञावाद (हठात् स्वीकृत पक्ष) से फिर कहता है—

अनुपलम्भ से अनुपलब्धि होने के कारण आवरणानुपलब्धि अनुपलम्भ से नहीं मान सकते?॥ २०॥

जैसे आवरणानुपलब्धि अनुपलभ्यमान होते हुए भी है, वैसे ही आवरण होते हुए भी वह अनुलभ्यमान भी है? हमारा तात्पर्य है कि यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि अनुलभ्यमान भी आवरणत्वानुपलब्धि है, तो यह स्वीकार करके ही आप यह भी कहते हैं कि—अनुपलम्भ से आवरण नहीं है, तो इस अभ्यनुज्ञावाद का प्रतिपादन ठीक नहीं हुआ?॥ २०॥

अनुपलम्भात्मक होने से अनुपलब्धि का वह अहेतु है॥ २१॥

जो उपलब्ध है वह है, जो उपलब्ध नहीं है वह नहीं है, तो अनुपलम्भात्मक द्रव्य असत् है—यह निश्चित हो गया। उपलब्ध्यभाव को अनुपलब्धि कहते हैं। यह अभाव के कारण उपलब्ध नहीं होता। सत् आवरण है। वह होता तो उसकी उपलब्धि होती; वह उपलब्ध नहीं हैं, अतः वह नहीं है। ऐसी स्थिति में, तुम्हारा 'अनुपलम्भ आवरण की अनुपपत्ति नहीं होती'—यह कथन ही अयुक्त है, हमारा पक्ष नहीं॥ २१॥

शब्द की नित्यता किस हेतु से प्रतिज्ञात करते हो? क्या

अस्पर्शवत्त्व होने से?॥ २२॥

अस्पर्शवान् आकाश नित्य देखा गया है, उसी तरह का यह शब्द है?॥ २२॥

सोऽयमुभयतः सव्यभिचारः-स्पर्शवाँश्चाणुर्नित्यः, अस्पर्शं च कर्मानित्यं दृष्टम्। अस्पर्शत्वादित्येतस्य साध्यसाधर्म्येणोदाहरणम्।

न; कर्मानित्यत्वात्॥ २३॥

अयं तर्हि हेतुः साध्यवैधर्म्येणोदाहरणम्?

न; अणुनित्यत्वात्॥ २४॥

उभयस्मिन्नुदाहणे व्यभिचारान्न हेतुः॥ २४॥

अयं तर्हि हेतुः—

सम्प्रदानात्?॥ २५॥

सम्प्रदीयमानमवस्थितं दृष्टम्, सम्प्रदीयते च शब्द आचार्येणान्तेवासिने, तस्मादवस्थित इति?॥ २५॥

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः॥ २६॥

येन सम्प्रदीयते तस्मै च, तयोरन्तरालेऽवस्थानमस्य केन लिङ्गेनोपलभ्यते? सम्प्रदीयमानो ह्यवस्थितः सम्प्रदातुरपैति, सम्प्रदानं च प्राप्नोति—इत्यवर्जनीयमेतत्॥ २६॥

अध्यापनादप्रतिषेधः॥ २७॥

अध्यापनं लिङ्गम्; असति सम्प्रदानेऽध्यापनं न स्यादिति॥ २७॥

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः?॥ २८॥

समानमध्यापनमुभयोः पक्षयोः, संशयानिवृत्तेः—किमाचार्यस्थः शब्दोऽन्तेवासिन-

---

अन्वय-व्यतिरेक से शब्द के नित्यत्व में अस्पर्शवत्त्व हेतु व्यभिचारी है; क्योंकि स्पर्शवान् अणु नित्य तथा अस्पर्शवान् कर्म अनित्य देखा गया है। अस्पर्शवत्त्व इस हेतु का साध्यसाधर्म्य से उदाहरण है?

नहीं; कर्म का अनित्यत्व देखा जाने से॥ २३॥

तो यह साध्यवैधर्म्य से उदाहरण हेतु है?

नहीं; अणु का नित्यत्व देखा जाने से॥ २४॥

दोनों ही उदाहरणों में व्यभिचार देखा जाने से 'अस्पर्शत्व' नित्यत्व में हेतु नहीं है॥ २४॥

तो यह हेतु मान लें—

सम्प्रदान से?॥ २५॥

सम्प्रदीयमान स्थिर देखा गया है, शब्द का भी आचार्य द्वारा छात्र को सम्प्रदान होता है, अतः यह स्थिर (नित्य) है?॥ २५॥

यह सम्प्रदान हेतु नहीं बन सकता; क्योंकि तदन्तराल की उपलब्धि नहीं होती॥ २६॥

जिसके द्वारा जिसके लिये सम्प्रदान किया जाता है, उन दोनों के मध्य में इसका अवस्थान किस ज्ञापक हेतु से सिद्ध करोगे? क्योंकि सम्प्रदीयमान पूर्वसिद्ध वस्तु दाता से दूर होकर सम्प्रदान को प्राप्त करती है। यह अपरिहार्य है। शिष्य सम्प्रदान नहीं है॥ २६॥

अध्यापन हेतु से सम्प्रदानत्व ज्ञापित हो सकता है?॥ २७॥

शिष्य के सम्प्रदानत्व में अध्यापन ही लिङ्ग है; क्योंकि सम्प्रदान के न होने पर अध्यापन कैसे बनेगा?॥ २७॥

दोनों ही पक्षों में अध्यापन से, सम्प्रदान में हेतुत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता॥ २८॥

मापद्यते तदध्यापनम्? आहोस्विन्नृत्योपदेशवद् गृहीतस्यानुकरणमध्यापनमिति? एव-मध्यापनमलिङ्गं सम्प्रदानस्येति॥ २८॥

अयं तर्हि हेतुः—

अभ्यासात्?॥ २९॥

अभ्यस्यमानमवस्थितं दृष्टम्। 'पञ्चकृत्वः पश्यति' इति रूपमवस्थितं पुनः पुनर्दृश्यते। भवति च शब्देऽभ्यासः—दशकृत्वोऽधीतोऽनुवाकः, विंशतिकृत्वोऽधीत इति। तस्माद-वस्थितस्य पुनः पुनरुच्चारणमभ्यास इति॥ २९॥

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात्[1]॥ ३०॥

अनवस्थानेऽप्यभ्यासस्याभिधानं भवति-द्विर्नृत्यतु भवान्, त्रिर्नृत्यतु भवान् इति; द्विरनृत्यत्, त्रिरनृत्यद्; द्विरग्निहोत्रं जुहोति, द्विर्भुङ्क्ते॥ ३०॥

एवं व्यभिचारात्, प्रतिषिद्धहेतावन्यशब्दस्य प्रयोगः प्रतिषिध्यते—

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः?॥ ३१॥

यदिदमन्यदिति मन्यसे, तत् स्वार्थेनानन्यत्वाद् अन्यन्न भवति, एवमन्यताया अभावः। तत्र यदुक्तम्—'अन्यत्वेऽप्यभ्यासोपचारात्' इति, एतदयुक्तमिति?॥ ३१॥

अध्यापन में दोनों (गुरु तथा छात्र) ही पक्षों के तुल्य होने से इस हेतु की संशयग्रस्तता के कारण सम्प्रदानत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। आप अध्यापन किसे मानते हैं—क्या आचार्यस्थ शब्द शिष्य के पास जाता है, वह अध्यापन है? या नृत्योपदेश में गृहीत के अनुकरण की तरह अध्यापन है? (दोनों ही अवस्थाओं में स्थिरत्व नहीं बना,) अतः अध्यापन से सम्प्रदानत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। (उसके सिद्ध न होने पर शब्द की नित्यता फिर अहेतुक रह गयी।)॥ २८॥

तो फिर, इसे हेतु मान लें—

अभ्यास से?॥ २९॥

अभ्यस्यमान (आवृत्तियोग्य) पदार्थ स्थिर देखा गया है, जैसे—'पाँच बार देखता है'। जो रूप स्थिर है वही बार बार दिखायी दे सकता है। शब्द में भी अभ्यास देखा गया है, जैसे—'अनुवाद दस बार पढ़ा गया, बीस बार पढ़ा गया'। यहाँ स्थित (नित्य) शब्द के बार बार उच्चारण को ही अभ्यास कहते हैं?॥ २९॥

नहीं; अस्थिरत्व मनाने पर भी उसमें औपचारिक अभ्यास बन सकता है॥ ३०॥

अन्य=अनवस्थित (अस्थिर=अनित्य) में भी अभ्यास हो सकता है, जैसे—'आप दो बार नृत्य कीजिये, तीन बार नृत्य कीजिये!' 'वह दो बार नाचा', 'तीन बार नाचा', 'दो बार अग्निहोत्र करता है', 'दो बार खाता है'। (इस प्रकार अस्थिर में भी अभ्यास देखा जाता है)॥ ३०॥

शङ्का—इस प्रकार व्यभिचार दोष दिखाकर हेतु (सम्प्रदान तथा अभ्यास) का प्रतिषेध कर देने पर, 'अन्य' शब्द का भी प्रतिषेध किया जा सकता है—

यह 'अन्य' दूसरे से अनन्य होने से अनन्य ही है, अतः अन्यता नहीं बन सकती?॥ ३१॥

जिसको 'अन्य' कह रहे हैं वह स्वार्थ से अनन्य है, अतः वह अन्य नहीं हो सकता; यों ('अन्य' न सिद्ध होने पर भी) 'अन्य में भी औपचारिक अभ्यास बन सकता है' आप का यह कथन अयुक्तियुक्त है?॥ ३१॥

---

१. अस्य भाष्यत्वमेव केचिद् वदन्ति।

शब्दप्रयोगं प्रतिषेधतः शब्दान्तरप्रयोगः प्रतिषिध्यते—

तदभावे नास्त्यनन्यता, तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अन्यस्यानन्यतामुपपादयति भवान्, उपपाद्य चान्यत् प्रत्याचष्टे, अनन्यदिति च शब्दमनुजानाति, प्रयुंक्ते चानन्यदिति। एतत् समासपदम्, अन्यशब्दोऽयं प्रतिषेधेन सह समस्यते। यदि चात्रोत्तरं पदं नास्ति कस्यायं प्रतिषेधेन सह समासः ? तस्मात्तयोरनन्यान्यशब्दयोरितरोऽनन्यशब्द इतरमन्यशब्दमपेक्षमाणः सिध्यतीति। तत्र यदुक्तम्—'अन्यताया अभावः' इति, एतदयुक्तमिति ॥ ३२ ॥

अस्तु तर्हीदानीं शब्दस्य नित्यत्वम् ?

विनाशकारणानुपलब्धेः ? ॥ ३३ ॥

यदनित्यं तस्य विनाशः कारणाद्भवति, यथा—लोष्टस्य कारणद्रव्यविभागात्। शब्दश्चेदनित्यः, तस्य विनाशो यस्मात् कारणाद्भवति तदुपलभ्येत, न चोपलभ्यते, तस्मान्नित्य इति ? ॥ ३३ ॥

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥ ३४ ॥

यथा विनाशकारणानुपलब्धेरविनाशप्रसङ्गः, एवमश्रवणकारणानुपलब्धेः सततं श्रवणप्रसङ्गः। व्यञ्जकाभावादश्रवणमिति चेत् ? प्रतिषिद्धं व्यञ्जकम्। अथ विद्यमानस्य निर्निमित्तमश्रवणमिति विद्यमानस्य निर्निमित्तो विनाश इति। समानश्च दृष्टविरोधो निमित्तमन्तरेण विनाशे च, अश्रवणे चेति ॥ ३४ ॥

[भाष्यकार कहते हैं कि वाक्छल से] शब्द-प्रयोग का प्रतिषेध करने वाले पूर्वपक्षी का यह शब्दान्तरप्रयोग के प्रतिषेध से उत्तर है—

उस 'अन्य' के अभाव में अनन्यता भी कहाँ रहेगी ? क्योंकि उन दोनों की सिद्धि परस्परापेक्ष है ॥ ३२ ॥

आप अन्य की अनन्यता सिद्ध करना चाहते हैं, उसे सिद्ध करके 'अन्य' का प्रत्याख्यान करते हैं। 'अनन्यत्' शब्द को आप स्वीकार करते हैं, और उसका प्रयोग करते हैं। क्या आप नहीं जानते कि 'अनन्यत्' यह समस्त पद है ! यहाँ 'अन्य' शब्द प्रतिषेध (नञ्) के साथ समस्त है। यदि आपके मत में यहाँ उत्तरपद (अन्य) नहीं है तो इस नञ् के साथ किसका समास होगा ? अतः उन दोनों 'अन्य' तथा 'अनन्य' शब्दों में से एक 'अनन्य' शब्द दूसरे 'अन्य' शब्द की अपेक्षा रखता हुआ सिद्ध हो जाता है। तब आपने जो 'अनन्यता' का अभाव बताया, वह अयुक्त है ॥ ३२ ॥

शङ्का—तो क्या अब शब्द का नित्यत्व मान लें—

विनाशकारण की उपलब्धि न होने से ? ॥ ३३ ॥

जो अनित्य है, कारण से उसका विनाश होता है। जैसे—ढेले का विनाश उसके कारणद्रव्य के विभाग से। शब्द यदि अनित्य होता तो उसका विनाश जिस कारण से होता हो वह मिलता ! मिलता है नहीं, अतः शब्द नित्य है ? ॥ ३३ ॥

तब अश्रवणकारण की अनुपलब्धि से श्रवणनैरन्तर्य प्रसक्त होने लगेगा ! ॥ ३४ ॥

जैसे विनाशकारण की उपलब्धि न होने से शब्द का नित्यत्व मान रहे हो तब तो उसके अश्रवण कारण की उपलब्धि न होने से निरन्तर श्रवणप्रसक्ति होने लगेगी ! यदि 'व्यञ्जक न होने से श्रवण नहीं होता'—ऐसा कहोगे ? तो हम व्यञ्जक का पीछे निषेध कर आये। यदि विद्यमान का

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ ३५ ॥

अनुमानाच्चोपलभ्यमाने शब्दस्य विनाशकारणे विनाशकारणानुपलब्धेरसत्त्वादित्यनपदेशः, यथा-यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति। किमनुमानमिति चेत् ? सन्तानोपपत्तिः। उपपादितः शब्दसन्तानः संयोगविभागजाच्छब्दाच्छब्दान्तरं ततोऽप्यन्यत्, ततोऽप्यन्यदिति। तत्र कार्यः शब्दः कारणशब्दमभिरुणद्धि[1]। [2]प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्त्वन्त्यस्य शब्दस्य निरोधकः। दृष्टं हि तिरःप्रतिकुड्यमन्तिकस्थेनाप्यश्रवणं शब्दस्य, श्रवणं दूरस्थेनाप्यसति व्यवधान इति।

घण्टायामभिहन्यमानायां तारस्तारतरो मन्दो मन्दतर इति श्रुतिभेदान्नानाशब्दसन्तानोऽविच्छेदेन श्रूयते, तत्र नित्ये शब्दे घण्टास्थमन्यगतं वाऽवस्थितं सन्तानवृत्ति वाऽभिव्यक्तिकारणं वाच्यम्, येन श्रुतिसन्तानो भवतीति। शब्दभेदे चासति श्रुतिभेद उपपादयितव्य इति। अनित्ये तु शब्दे घण्टास्थं सन्तानवृत्ति संयोगसहकारि निमित्तान्तरं संस्कारभूतं पटु मन्दमनुवर्तते, तस्यानुवृत्त्या शब्दसन्तानानुवृत्तिः, पटुमन्दभावाच्च तीव्रमन्दता शब्दस्य, तत्कृतश्च श्रुतिभेद इति ॥ ३५ ॥

न वै निमित्तान्तरं संस्कार उपलभ्यते, अनुपलब्धेर्नास्तीति ?

अकारण अश्रवण मानोगे तो विद्यमान का अकारण विनाश होने लगेगा। निमित्त के विना विनाश तथा अश्रवण में दृष्टविरोध की समानता ही है ॥ ३४ ॥

उपलभ्यमान होने पर अनुपलब्धि न होने से वह अहेतु है ॥ ३५ ॥

शब्द का विनाशकारण अनुमान से उपलभ्यमान होने से उसकी अनुपलब्धि से नित्यत्व नहीं माना जा सकता। जैसे—'जिस कारण से विषाणी है उसी कारण से अश्व है'। अनुमान क्या है ? सन्तान (शब्दधारा) का उपपादन। शब्दसन्तान उपपादित है, जैसे संयोग-विभागज शब्द से शब्दान्तर, उससे अन्य तथा उससे अन्य—यों अनवस्था होने लगेगी ! (जब कि वास्तविकता यह है कि) कार्य (उत्तरोत्तर) शब्द कारण (पूर्व पूर्व) शब्द को रोक देता है। प्रतिघाती द्रव्य का संयोग अन्त्य शब्द का निरोधक है। लोक में यह देखा जाता है कि व्यवधानकारक दीवाल आदि से व्यवहित होने से समीप का शब्द भी सुनायी नहीं देता, तथा व्यवधान न हो तो दूर का शब्द भी सुनायी दे जाता है।

घण्टा बजने पर, तीव्र से तीव्रतर तथा मन्द से मन्दतर—यों श्रवण-भेद से उसकी नाना शब्दसन्तति अविच्छिन्नतया (निरन्तर) सुनने में आती है। नित्य शब्द माने जाने पर, घण्टास्थित अन्यगत या अवस्थित सन्तानवृत्ति को अभिव्यक्ति कारण बताना पड़ेगा, जिससे वह श्रुति-सन्तान सिद्ध हो सके। शब्दभेद न मानने पर श्रुति-भेद का उपपादन करना पड़ेगा। शब्द को अनित्य मानने पर, घण्टास्थित निमित्तान्तर ही सन्तानवृत्ति संयोग के साथ रहने वाले हो कर संस्कार के रूप में तीव्र, मन्द का अनुवर्तन करते हैं। इस अनुवर्तन से शब्द की सन्तानानुवृत्ति, तथा तीव्रता या मन्दता से शब्द की तीव्रता मन्दता सिद्ध हो जायँगी और श्रुतिभेद भी उपपन्न हो जायँगे ॥ ३५ ॥

निमित्तान्तर संस्कार उपलब्ध नहीं होता तो साधक प्रमाण के अभाव में वह नहीं है—ऐसा मान लें ?

---

१. निरुणद्धि-इति पाठा०।

२. 'प्रतिघाति द्रव्यं कुड्यादि तत्संयोगो नभसः। एतदुक्तं भवति—घनतरद्रव्यसंयुक्तं नभो न शब्दसमवायिकारणतां प्रतिपद्यते; ततश्च तत्रप्यसमवायिकारणं शब्दो न शब्दान्तरमारभते'—इति वाचस्पतिमिश्राः। न्यायकन्दलीकारास्तु—'प्रतिघातिद्रव्यमत्र शब्दकारणीभूतो वायुरेव' इति वदन्ति।

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥ ३६ ॥

पाणिकर्मणा पाणिघण्टाप्रश्लेषो भवति, तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोत्पद्यते[1], अतः श्रवणानुपपत्तिः। तत्र प्रतिघातिद्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं निरुणद्धीत्यनुमीयते, तस्य च निरोधाच्छब्दसन्तानो नोत्पद्यते। अनुत्पत्तौ श्रुतिविच्छेदो यथा-प्रतिघातिद्रव्यसंयोगादिषोः क्रियाहेतौ संस्कारे निरुद्धे गमनाभाव इति। कम्पसन्तानस्य स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः। कांस्यपात्रादिषु पाणिसंश्लेषो लिङ्गं संस्कारसन्तानस्येति। तस्मान्निमित्तान्तरस्य संस्कारभूतस्य नानुपलब्धिरिति ॥ ३६ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः[2] ॥ ३७ ॥

यदि यस्य विनाशकारणं नोपलभ्यते तदवतिष्ठते। अवस्थानाच्च तस्य नित्यत्वं प्रसज्यते। एवं यानि खल्विमानि शब्दश्रवणानि शब्दाभिव्यक्तय इति मतम्, न तेषां विनाशकारणं भवतोपपाद्यते, अनुपपादनादवस्थानम्, अवस्थानात् तेषां नित्यत्वं प्रसज्यत इति। अथ नैवम्, न तर्हि विनाशकारणानुपलब्धेः शब्दस्यावस्थानान्नित्यत्वमिति ॥ ३७ ॥

कम्पसमानाश्रयस्य चानुनादस्य पाणिप्रश्लेषात् कम्पवत् कारणोपरमादभावः; वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यप्रश्लेषात् समानाधिकरणस्यैवोपरमः स्यादिति ?

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३८ ॥

हाथ के कारण कम्पवारक संयोग द्वारा शब्द न होने से उपलब्धि नहीं होती ॥ ३६ ॥

पाणिक्रिया से पाणि-घण्टा संयोग होता है, उसके होने पर शब्दसन्तान उत्पन्न नहीं हो पाते, अतः श्रवण अनुपपन्न है। वहाँ 'प्रतिघाती द्रव्यसंयोग शब्द के निमित्तान्तर संस्कार को रोक देता है'—ऐसा अनुमान होता है; उसके निरोध से शब्दसन्तति उत्पन्न नहीं होती। उसके अनुत्पन्न होने पर श्रवण विच्छिन्न हो जायगा; जैसे—प्रतिघाती द्रव्यसंयोग से बाण के क्रियाकारण संस्कार (वेग) के निरुद्ध होने पर वह आगे नहीं बढ़ता, स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य कम्पसन्तान का उपरम हो जाता है। अतः कांस्यपात्रादि में पाणि का संयोग संस्कारसन्तान का साधक हेतु है। इसलिये कारणान्तर संस्कारभूत की उपलब्धि नहीं होती ॥ ३६ ॥

विनाशकारण की उपलब्धि न होने से उसे स्थिर मानना पड़ेगा, और उसमें नित्यत्व प्रसक्त होने लगेगा ॥ ३७ ॥

यदि किसी का विनाशकारण उपलब्ध नहीं होता है तो वह स्थिर माना जाता है। स्थिर होने पर उसमें नित्यता माननी पड़ेगी। इस प्रकार 'यह शब्दश्रुति शब्दाभिव्यक्ति है', यह मानोगे तो आपने उनके विनाशकारण का उपपादन नहीं किया, उसके अनुपपादन से उनमें स्थिरता (सत्ता) मानी जायगी, स्थिरता से उनमें नित्यता प्रसक्त होगी। ऐसा नहीं है, उसके विनाशकारण की उपलब्धि से न तो स्थिरता बनेगी, न नित्यत्व ही सिद्ध होगा! ॥ ३७ ॥

कम्प के साथी (समानाधिकरण) होकर अनुनाद (अनुवृत्तशब्द) का पाणि के कम्पवारक संयोग से, कम्प के नाश की तरह, कारणनाश से अभाव माना जाता है। शब्दवैयधिकरण्य मानने पर प्रतिघातिद्रव्यसंयोग से समानाधिकरण का ही उपरम सम्भव है ?

अस्पर्शत्व हेतु से प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ३८ ॥

---

१. 'नोपलभ्यते' इति पाठा०।

२. वृत्तिकृता न व्याख्यातमेतत्, अतो न सूत्रमिति केचित्।

यदिदं नाकाशगुणः शब्द इति प्रतिषिध्यते, अयमनुपपन्नः प्रतिषेधः; अस्पर्शत्वाच्छब्दाश्रयस्य। रूपादिसमानदेशस्याग्रहणे शब्दसन्तानोपपत्तेरस्पर्शव्यापिद्रव्याश्रयः शब्द इति ज्ञायते, न च कम्पसमानाश्रय इति ॥ ३८ ॥

प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह सन्निविष्टः शब्दः समानदेशो व्यज्यत इति नोपपद्यते, कथम् ?

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ३९ ॥

सन्तानोपपत्तेश्चेति चार्थः, तद् व्याख्यातम्। यदि रूपादयः शब्दश्च प्रतिद्रव्यं समस्ताः समुदिताः तस्मिन् समासे समुदाये यो यथाजातीयकः सन्निविष्टस्तस्य तथाजातीयस्यैव ग्रहणेन भवितव्यं शब्दे, रूपादिवत्। तत्र योऽयं विभागः—एकद्रव्ये नानारूपा भिन्नश्रुतयो विधर्माणः शब्दा अभिव्यज्यमानाः श्रूयन्ते; यच्च विभागान्तरम्-सरूपाः समानश्रुतयः सधर्माणः शब्दास्तीव्रमन्दधर्मतया भिन्नाः श्रूयन्ते-तदुभयं नोपपद्यते, नानाभूतानामुत्पद्यमानानामयं धर्मः, नैकस्य व्यज्यमानस्येति। अस्ति चायं विभागो विभागान्तरं च, तेन विभागोपपत्तेर्मन्यामहे—न प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह शब्दः सन्निविष्टो व्यज्यत इति ॥ ३९ ॥

शब्दपरिणामपरीक्षाप्रकरणम् [४०-५६]

द्विविधश्चायं शब्दः-वर्णात्मकः, ध्वनिमात्रश्च। तत्र वर्णात्मनि तावत्—

विकारादेशोपदेशात् संशयः ॥ ४० ॥

दध्यत्रेति केचिद् इकार इत्वं हित्वा यत्वमापद्यत इति विकारं मन्यन्ते। केचिदिकारस्य प्रयोगे विषयकृते यदिकारः स्थानं जहाति तत्र यकारस्य प्रयोगं ब्रुवते। संहितायां विषये इकारो

'शब्द आकाशगुण नहीं है' यह प्रतिषेध शब्दाश्रय में अस्पर्शत्व होने से नहीं बनेगा; क्योंकि रूपादिसमानदेश का अग्रहण होते हुए शब्दसन्तानोपपादन से 'अस्पर्शव्यापि द्रव्याधिकरणक शब्द है'—यह ज्ञान होता है, न कि 'कम्पसमानाधिकरण' ॥ ३८ ॥

समास में विभक्त्यन्तरोपपादन से भी प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ३९ ॥

सन्तानोपपादन से भी प्रतिषेध नहीं बनता—यह सूत्रस्थ 'च' का अर्थ है। इसका व्याख्यान किया जा चुका। यदि रूपादि और शब्द प्रत्येक द्रव्य में समस्त तथा समुदित रहेंगे तो उस समस्त समुदाय में जो जैसी जाति का सन्निवेश होगा उसका वैसा ही ग्रहण रूप में होना चाहिये, रूपादि की तरह। वहाँ यह जो विभाग किया गया है—'एक द्रव्य में नाना स्वरूपवाले भिन्न श्रुतिवाले विधर्मी शब्द अभिव्यक्त होते हुए सुने जाते हैं'; तथा यह जो दूसरा विभाग किया गया है—'सरूप (एक समान) समानश्रुति समानधर्मा शब्द तीव्र, मन्द भेद से भिन्न होते हुए सुने जाते हैं'—ये दोनों विभाग नहीं बनेंगे; क्योंकि ये अनेक धर्म नाना प्रकार के उत्पद्यमान शब्दों में सम्भावित है, न कि एक व्यज्यमान में अथवा अन्य विभाग भी क्लृप्त ही धर्म हैं। इस विभागोपपादन से हम मानते हैं कि शब्द प्रत्येक शब्द में रूपादिकों के साथ सन्निविष्ट होता हुआ व्यक्त नहीं होता ॥ ३९ ॥

शब्दपरिणामपरीक्षा—यह शब्द दो प्रकार का होता है—१. वर्णात्मक, तथा २. ध्वनिमात्र। वहाँ वर्णात्मक में—

विकारात्मक आदेश कहने से संशय होता है ॥ ४० ॥

जैसे 'दध्यत्र' यहाँ कुछ विद्वान् (कालापमतानुसारी वैयाकरण) इकार में इत्व को हटाकर यत्व होता है, इसे विकार मानते हैं। कुछ (सारस्वतव्याकरणवाले) विद्वान् इकार के कार्यत्वेन दृष्ट

न प्रयुज्यते तस्य स्थाने यकारः प्रयुज्यते, स आदेश इति—उभयमिदमुपदिश्यते। तत्र न ज्ञायते-किं तत्त्वमिति?

आदेशोपदेशस्तत्त्वम्—

विकारोपदेशे ह्यन्वयस्याग्रहणाद्विकाराननुमानम्। सत्यन्वये किञ्चिन्निवर्तते किञ्चिदुपजायत इति शक्यते विकारोऽनुमातुम्। न चान्वयो गृह्यते, तस्माद् विकारो नास्तीति।

भिन्नकरणयोश्च वर्णयोरप्रयोगे प्रयोगोपपत्तिः। विवृतकरण इकारः, ईषत्स्पृष्टकरणो यकारः, ताविमौ पृथक्करणाख्येन प्रयत्नेनोच्चारणीयौ। तयोरेकस्याप्रयोगेऽन्यतरस्य प्रयोग उपपन्न इति।

अविकारे चाविशेषः। यत्रेमाविकारयकारौ न विकारभूतौ-यतते, यच्छति, प्रायंस्त इति, इकारः, इदमिति च; यत्र च विकारभूतौ-इष्ट्वा, दध्याहरेति; उभयत्र प्रयोक्तुरविशेषो यत्नः श्रोतुश्च श्रुतिरित्यादेशोपपत्तिः।

प्रयुज्यमानाग्रहणाच्च। न खलु इकारः प्रयुज्यमानो यकारतामापद्यमानो गृह्यते, किं तर्हि? इकारस्य प्रयोगे यकारः प्रयुज्यते, तस्मादविकार इति।

अविकारे च न शब्दान्वाख्यानलोपः। 'न विक्रियन्ते वर्णाः' इति। न चैतस्मिन् पक्षे शब्दान्वाख्यानस्यासम्भवः, येन वर्णविकारं प्रतिपद्येमहीति।

न खलु वर्णस्य वर्णान्तरं कार्यम्-न हि इकाराद्यकार उत्पद्यते, यकाराद्वा इकारः।

प्रयोग में जो इकार स्थान छोड़ता है वहाँ यकार का प्रयोग कहते हैं। संहिताविषय (सन्धि) में इकार नहीं बोला जाता, वहाँ इकार के स्थान में यकार का प्रयोग होता है, यह प्रयोग 'आदेश' कहलाता है। यहाँ इकार, यकार—दोनों का उपदेश किया गया है। इस प्रसङ्ग में, सचाई (तत्त्व) क्या है, पता नहीं लगता? वैयाकरणमूर्धन्य पाणिनि के मत से आदेशोपदेश ही वहाँ सचाई है। विकारोपदेश मानने पर, अन्वयज्ञान न होने से विकार का अनुमान नहीं बनेगा। अन्वय होने पर, सुवर्ण में कुछ 'पिण्डाद्याकार' वहाँ निवृत्त होता है, कुछ 'कुण्डलाद्याकार' पैदा होता है, अतः अनुमान बन सकता है। क्योंकि यहाँ कुण्डल, रुचकादि की सुवर्णावयवानुवृत्ति की तरह अन्वय नहीं हो पाता, अतः विकार नहीं है।

भिन्न प्रयत्नजन्य वर्णों में एक के अप्रयोग में दूसरे का प्रयोग उत्पन्न होने लगेगा; क्योंकि इकार का विवृत प्रयत्न है, तथा यकार का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न। ये दोनों पृथव्यापार वाले प्रयत्न से उच्चारणीय हैं, इनमें एक के अप्रयोग पर दूसरे का प्रयोग उत्पन्न होता है।

अविकार मानने पर कोई विशेषता नहीं आयगी; क्योंकि इनके उच्चारणों में वक्ता या श्रोता को प्रयत्नान्तर नहीं करना पड़ता। जैसे—'यतते, यच्छति, आयंस्त'—यहाँ 'य'; तथा 'इकार' 'इदम्' यहाँ 'इ' अविकार हैं; तथा 'इष्ट्वा' 'दध्यत्र' यहाँ ये दोनों विकार हैं। दोनों ही जगह प्रयोक्ता का समान प्रयत्न है, श्रोता को श्रवण भी वैसा ही होता है।

प्रयुज्यमान अक्षर में स्थानी अक्षर का ग्रहण न होने से जैसे इकार प्रयुज्यमान होते हुए वह यकारता के रूप में होता हुआ नहीं होता, अपितु इस प्रकार के प्रयोग में यकार का प्रयोग होता है, अतः वह अविकार है।

अविकार मानने से शब्दान्वाख्यानपरम्परा का लोप भी नहीं होगा। 'वर्ण विकृत नहीं होते' इस पक्ष में शब्दान्वाख्यान असम्भव नहीं है कि हमें आपका वर्णविकारपक्ष मानना पड़े।

पृथक्स्थानप्रयत्नोत्पाद्या हीमे वर्णाः, तेषामन्योऽन्यस्य स्थाने प्रयुज्यत इति युक्तम्। एतावच्चैतत्परिणामो विकारः स्यात् कार्यकारणभावो वा; उभयं न नास्ति। तस्मान्न सन्ति वर्णविकाराः।

१. वर्णसमुदायविकारानुपपत्तिवच्च वर्णविकारानुपपत्तिः। 'अस्तेर्भूः' (पा० सू० २.४.५२) 'ब्रुवो वचिः' (२.४.५३) इति यथा वर्णसमुदायस्य धातुलक्षणस्य क्वचिद्विषये वर्णान्तरसमुदायो न परिणामो न कार्यम्, शब्दान्तरस्य स्थाने शब्दान्तरं प्रयुज्यते। तथा वर्णस्य वर्णान्तरमिति॥ ४०॥

२. इतश्च न सन्ति विकाराः—

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः॥ ४१॥

प्रकृत्यनुविधानं विकारेषु दृष्टम्, यकारे ह्रस्वदीर्घानुविधानं नास्ति, येन विकारत्वमनुमीयत इति॥ ४१॥

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः?॥ ४२॥

द्रव्यविकारा न्यूनाः समा अधिकाश्च गृह्यन्ते। तद्वदयं विकारो न्यूनः स्यादिति?॥ ४२॥

द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं दृष्टान्तः॥ ४३॥

अत्र नोदाहरणसाधर्म्याद्धेतुरस्ति; न वैधर्म्यात्। अनुपसंहृतश्च हेतुना दृष्टान्तो न साधक इति।

प्रतिदृष्टान्ते चानियमः प्रसज्येत, यथा-अनडुहः स्थानेऽश्वो वोढुं नियुक्तो न तद्विकारो

वर्ण से वर्णान्तर भी नहीं बनता, ऐसा नहीं होता कि इकार से यकार उत्पन्न हो या यकार से इकार उत्पन्न हो; क्योंकि वर्ण अपने अपने पृथक् स्थान तथा प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाले हैं। उनमें दूसरा दूसरे के स्थान में प्रयुक्त होता है—यही मानना उचित है। इतना इसका यह परिणाम है—ऐसा विकार हो सकता है। अथवा कार्यकारण भाव हो सकता है। ये दोनों नहीं हैं, अतः वर्णविकार नहीं है।

वर्णसमुदायविकारानुपपत्ति की तरह यह वर्णविकारानुपपत्ति भी मान लेनी चाहिये। जैसे—'अस्तेर्भूः' (पा० सू० २.४.५२), 'ब्रुवो वचिः' (पा० सू० २.४.५३) यह धातुलक्षण वर्णसमुदाय का किसी विषय में होने वाला वर्णसमुदाय (वचि) न परिणाम है, न विकार; केवल, दूसरे शब्द के स्थान में दूसरा शब्द प्रयुक्त हो जाता है—इतना ही सिद्धान्त है। इस नय से दूसरे वर्ण के स्थान में दूसरा वर्ण प्रयुक्त होता है—यही सिद्धान्त है॥ ४०॥

२. वर्ण इसलिये भी विकार नहीं हैं—

प्रकृति की विवृद्धि होने से विकार की विवृद्धि होने के कारण॥ ४१॥

विकारों में प्रकृत्यनुविधान देखा जाता है; परन्तु यहाँ यकार में दीर्घादि की अनुवृत्ति नहीं देखी जाती, जिससे यकार में विकारत्व का अनुमान हो सके॥ ४१॥

न्यून, सम तथा अधिक उपलब्धि से यहाँ विकारों का हेतुत्व नहीं बनता?॥ ४२॥

लोक में जैसे द्रव्यविकार में न्यूनता समता या अधिकता देखी जाती है वैसे इन वर्णों में विकार न्यून हो सकता है। अतः विकार का साधक कोई हेतु नहीं है॥ ४२॥

दोनों प्रकार के हेतुओं के अभाव से दृष्टान्त असाधक है॥ ४३॥

यहाँ न तो उदाहरणसादृश्य से हेतु है और न उदाहरणवैसादृश्य से। अतः हेतु से अनुपसंहृत दृष्टान्त साधक नहीं होता।

भवति, एवमिवर्णस्य स्थाने यकारः प्रयुक्तो न विकार इति। न चात्र नियमहेतुरस्ति दृष्टान्तः साधको न प्रतिदृष्टान्त इति॥ ४ ३॥

द्रव्यविकारोदाहरणं च—

न; अतुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात्॥ ४४॥

अतुल्यानां द्रव्याणां प्रकृतिभावोऽवकल्पते, विकाराश्च प्रकृतीरनुविधीयन्ते। न त्विवर्णमनुविधीयते यकारः। तस्मादनुदाहरणं द्रव्यविकार इति॥ ४४॥

द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ?॥ ४५॥

यथा द्रव्यभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारवैषम्यम्, एवं वर्णभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारविकल्प इति ?॥ ४५॥

न; विकारधर्मानुपपत्तेः॥ ४६॥

अयं विकारधर्मो द्रव्यसामान्ये-यदात्मकं द्रव्यं मृद्वा सुवर्णं वा, तस्यात्मनोऽन्वये पूर्वो व्यूहो निवर्त्तते व्यूहान्तरं चोपजायते, तं विकारमाचक्ष्महे। न वर्णसामान्ये कश्चिच्छब्दात्माऽन्वयी-य इत्वं जहाति यत्वं चापद्यते। तत्र यथा सति द्रव्यभावे विकारवैषम्ये नाऽनडुहोऽश्वो विकारः, विकारधर्मानुपपत्तेः; एवमिवर्णस्य न यकारो विकारः, विकारधर्मानुपपत्तेरिति॥ ४६॥

३. इतश्च न सन्ति वर्णविकाराः—

विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः॥ ४७॥

प्रतिदृष्टान्त में अनियमप्रसक्ति भी होने लगेगी, जैसे गाड़ी में बैल के स्थान पर घोड़ा जोत दिया जाय तो वह उसका विकार थोड़े हो जायगा! इसी तरह इवर्ण के स्थान में यकार का प्रयोग हो तो वह विकार कैसे हुआ! अतः यहाँ न तो नियमसाधन का दृष्टान्त ही साधक है, न प्रतिदृष्टान्त॥ ४३॥

यहाँ द्रव्यविकार का उदाहरण भी—

नहीं; असमान द्रव्यों के विकारविकल्प से॥ ४४॥

अपने से असमान जातीय द्रव्यों में प्रकृतिभाव क्लृप्त है, परन्तु वहाँ विकार प्रकृति का अनुविधान (अनुवृत्ति) करते हैं; यहाँ तो इवर्ण का यकार अनुविधान नहीं करता, अतः यहाँ द्रव्यविकार उदाहरण नहीं बन सकता॥ ४४॥

द्रव्यविकार के वैषम्य की तरह वर्णविकारविकल्प मान लिया जाय ?॥ ४५॥

जैसे द्रव्यत्वेन समान प्रकृति में विकार-विषमता देखी जाती है; इसी तरह यहाँ वर्णभाव से समान प्रकृति का विकारविकल्प क्यों न मान लिया जाय ?॥ ४५॥

विकारधर्मानुपपत्ति के कारण नहीं मान सकते॥ ४६॥

द्रव्यसामान्य में विकारधर्म यह है कि जैसा द्रव्य हो—मिट्टी हो या सुवर्ण हो, तदात्मक में अन्वय होने पर पूर्व पिण्डाद्याकृति निवृत्त हो जाती है, तथा कुण्डलाद्याकृति उत्पन्न हो जाती है—इसे विकार कहते हैं। वर्णसामान्य में कोई शब्दात्मा सुवर्ण व्यक्ति की तरह अन्वयी नहीं, जो इत्व को छोड़ दे और यत्व को ग्रहण कर ले! वहाँ जैसे द्रव्यत्वेन समान होने पर भी विकारवैषम्य होने पर अश्व जैसे बैल नहीं हो पाता, क्योंकि वहाँ विकारधर्म की उत्पत्ति नहीं है; इसी तरह इवर्ण भी यकार का विकार नहीं है, क्योंकि यहाँ विकारधर्म की उपपत्ति नहीं है॥ ४६॥

३. इसलिये भी वर्ण विकार नहीं है, क्योंकि—

विकारापन्नों की पुनरापत्ति नहीं हुआ करती॥ ४७॥

अनुपपन्ना पुनरापत्तिः। कथम्? पुनरापत्तेरननुमानादिति। इकारो यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवति, न पुनरिकारस्य स्थाने यकारस्य प्रयोगोऽप्रयोगश्चेत्यत्रानुमानं नास्ति॥ ४७॥

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ?॥ ४८॥

अननुमानादिति न। इदं ह्यनुमानम्—

सुवर्णं कुण्डलत्वं हित्वा रुचकत्वमापद्यते, रुचकत्वं हित्वा पुनः कुण्डलत्वमापद्यते, एवमिकारोऽपि यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवतीति ?॥ ४८॥

व्यभिचारादननुमानम्, यथा—पयो दधिभावमापन्नं न पुनः पयो भवति, किमेवं वर्णानां न पुनरापत्तिः ? अथ सुवर्णवत् पुनरापत्तिरिति ?

सुवर्णोदाहरणोपपत्तिश्च—

न; तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात्॥ ४९॥

अवस्थितं सुवर्णं हीयमानेन धर्मेण उपजायमानेन न धर्मि भवति, नैवं कश्चिच्छब्दात्मा हीयमानेनेत्वेन उपजायमानेन यत्वेन धर्मी गृह्यते, तस्मात् सुवर्णोदाहरणं नोपपद्यत इति॥ ४९॥

वर्णत्वाव्यतिरेकाद् वर्णविकाराणामप्रतिषेधः[१] ?॥ ५०॥

वर्णविकारा अपि वर्णत्वं न व्यभिचरन्ति, यथा-सुवर्णविकारः सुवर्णत्वमिति ?॥ ५०॥

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य[१]॥ ५१॥

यहाँ पुनःप्राप्ति अनुपपन्न है, कैसे ? पुनरापत्ति से विकार का अनुमान नहीं होता। यहाँ तो इकार यकार बनकर फिर इकार बन जाता है। यकार के स्थान में इकार का प्रयोग है या अप्रयोग, अतः इस विषय में विकार का अनुमान नहीं होता॥ ४७॥

सुवर्णादिकों के पुनरापादन से उक्त हेतु नहीं बनता ?॥ ४८॥

अनुमान नहीं होता—यह आपका कथन उचित नहीं; क्योंकि यह अनुमान है—'सुवर्ण कुण्डलत्व को छोड़कर रुचकत्व-आकृति प्राप्त कर लेता है, रुचकत्व को छोड़कर पुनः कुण्डलत्वाकृति धारण कर लेता है। इसी तरह इकार भी यकार बन कर पुनः इकार बन जाता है'?॥ ४८॥

हेतु के व्यभिचरित होने से अनुमान नहीं है; जैसे दूह के दही बन जाने पर पुनः वह दूध नहीं बन सकता। क्या इस दूध की तरह वर्णों का पुनरापादन नहीं होता, या सुवर्ण की तरह पुनरापादन हो जाता है ? सुवर्ण की तरह आपादन तो—

नहीं होता; क्योंकि उस सुवर्ण के विकार उससे अतिरिक्त नहीं हैं॥ ४९॥

वर्तमान सुवर्ण हीयमान, तथा उत्पद्यमान धर्म से धर्मी बन सकता है; परन्तु कोई शब्दात्मा हीयमान इकार से उत्पद्यमान यकार द्वारा धर्मी नहीं बनता। अतः यहाँ सुवर्णोदाहरण नहीं घटता॥ ४९॥

वर्णत्व के सामान्य होने से, वर्णविकारों का प्रतिषेध युक्त नहीं॥ ५०॥

वर्णविकार भी वर्णत्व को व्यभिचरित नहीं कर पाते, जैसे—सुवर्णविकार सुवर्णत्व को; (अतः वर्णविकार से वर्णत्व स्थिर होने से वर्ण विकार है ?)॥ ५०॥

सामान्यवान् का विकारधर्म (कार्ययोग) सामान्य का नहीं बना करता॥ ५१॥

१-१. सूत्रद्वयं यद्यपि न्यायसूचीनिबन्धे नोपलभ्यते इति तात्पर्यटीकाऽसम्मतिः स्पष्टं प्रतिभाति, तथापि वार्तिककृता सूत्रद्वयस्यापि व्याख्यानादस्माभिरिदं स्वीकृतम्।-अ०

कुण्डलरुचकौ सुवर्णस्य धर्मौ न सुवर्णत्वस्य, एवमिकारयकारौ कस्य वर्णात्मनो धर्मौ? वर्णत्वं सामान्यम्, न तस्येमौ धर्मौ भवितुमर्हतः। न च निवर्तमानो धर्म उपजायमानस्य प्रकृतिः, तत्र निवर्तमान इकारो न यकारस्योपजायमानस्य प्रकृतिरिति ॥ ५१ ॥

४. इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः—

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ५२ ॥

'नित्या वर्णाः' इत्येतस्मिन् पक्षे इकारयकारौ वर्णौ—इत्युभयोर्नित्यत्वाद् विकारानुपपत्तिः। नित्यत्वेऽविनाशित्वात् कः कस्य विकार इति! अथानित्या वर्णा इति पक्षः? एवमप्यनवस्थानं वर्णानाम्। किमिदमनवस्थानं वर्णानाम्? उत्पद्य निरोधः। उत्पद्य निरुद्धे इकारे यकार उत्पद्यते, यकारे चोत्पद्य निरुद्धे इकार उत्पद्यत इति कः कस्य विकारः! तदेतदवगृह्य सन्धाने सन्धाय चावग्रहे वेदितव्यमिति ॥ ५२ ॥

नित्यपक्षे तु तावत् समाधिः—

नित्यानामतीन्द्रियत्वात् तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ? ॥ ५३ ॥

नित्या वर्णा न विक्रियन्त इति विप्रतिषेधः। यथा नित्यत्वे सति किञ्चिदतीन्द्रियम्, किञ्चिदिन्द्रियग्राह्यम्, इन्द्रियग्राह्याश्च वर्णाः; एवं नित्यत्वे सति किञ्चिन्न विक्रियते, वर्णास्तु विक्रियन्त इति?

कुण्डल या रुचक—सुवर्ण के धर्म हैं, सुवर्णत्व के नहीं, इस तरह इकार यकार किस वर्णात्मा के धर्म होंगे? वर्णत्व सामान्य है, उसके इकार-यकार धर्म नहीं बन सकते। जो विनष्ट होता है वह (हीयमान) धर्म उपजायमान धर्म की प्रकृति कैसे बन सकता है! अतः निवर्तमान इकार उपजायमान यकार की प्रकृति नहीं है ॥ ५१ ॥

४. इसलिये भी वर्णविकार का अनुपपादन समझना चाहिये—

(क्योंकि) नित्य होने पर उनमें विकार न बनेगा, अनित्य मानने पर उनका अनवस्थान होगा ॥ ५२ ॥

'वर्ण नित्य है' इस पक्ष में इकार-यकार दोनों ही वर्णों के नित्य होने से उनमें विकार नहीं बनेगा; क्योंकि नित्य मानने पर उनके अविनाशी होने से कौन किसका विकार होगा! यदि 'वर्ण अनित्य है' यह पक्ष मानते हो तो भी वर्णों का अनवस्थान ही रहेगा। 'अनवस्थान' से तात्पर्य है 'उत्पन्न होकर उनका निरोध'। इकार के उत्पन्न होकर निरुद्ध होनेपर यकार उत्पन्न होता है, और यकार के उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर इकार उत्पन्न होता है, तब बताइये—इनमें कौन किसका विकार बन सकता है! यह 'उत्पन्न होकर निरोध' अवग्रह (असंहिता) करके सन्धि के विषय में या सन्धि करके अवग्रह के विषय में समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

शङ्का—नित्यपक्ष में तो समाधान हो सकता है—

नित्य वर्णों के अतीन्द्रिय होने से तथा तद्धर्मविकल्प से वर्णविकार का प्रतिषेध नहीं बन सकता? ॥ ५३ ॥

'वर्ण नित्य है' यह मानने पर उनमें विकार नहीं होगा—यह आप नहीं कह सकते; क्योंकि नित्य होने पर कुछ पदार्थ अतीन्द्रिय तथा कुछ इन्द्रियग्राह्य होते हैं; वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं। इस प्रकार, नित्य होने पर कोई पदार्थ विकृत नहीं होता, वर्ण विकृत हो जाते हैं?

विरोधादहेतुस्तद्धर्मविकल्पः; नित्यं नोपजायते नापैति। अनुपजनापायधर्मकं नित्यम्। अनित्यं पुनरुपजनापाययुक्तम्, न चान्तरेणोपजनापायौ विकारः सम्भवतीति। तद्यदि वर्णा विक्रियन्ते? नित्यत्वमेषां निवर्त्तते। अथ नित्याः? विकारधर्मत्वमेषां निवर्त्तते। सोऽयं विरुद्धो हेत्वाभासो धर्मविकल्प इति ॥ ५३ ॥

अनित्यपक्षे समाधिः—

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत् तद्विकारोपपत्तिः ? ॥ ५४ ॥

यथाऽनवस्थायिनां वर्णानां श्रवणं भवत्येवमेषां विकारो भवतीति?

असम्बन्धादसमर्था अर्थप्रतिपादिका[1] वर्णोपलब्धिर्न विकारेण सम्बन्धादसमर्था, या गृह्यमाणा वर्णविकारमर्थमनुमापयेदिति। तत्र यादृगिदम् यथा गन्धगुणा पृथिव्येवं शब्दसुखादिगुणापीति, तादृगेतद्भवतीति। न च वर्णोपलब्धिर्वर्णनिवृत्तौ वर्णान्तरप्रयोगस्य निवर्तिका। योऽयमिवर्णनिवृत्तौ यकारस्य प्रयोगः, यद्ययं वर्णोपलब्ध्या निवर्त्तते तदा तत्रोपलभ्यमान इवर्णो यत्वमापद्यते इति गृह्येत। तस्माद् वर्णोपलब्धिरहेतुर्वर्णविकारस्येति ॥ ५४ ॥

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

'तद्धर्मविकल्पात्' इति न युक्तः प्रतिषेधः। न खलु विकारधर्मकं किञ्चिन्नित्य-

---

उत्तर—यह 'तद्धर्मविकल्प' विरुद्ध होने से यहाँ हेतु नहीं बन सकता। नित्य न उत्पन्न होता है, न विनष्ट। नित्य अनुत्पादाविनाशधर्मक होता है, और अनित्य उत्पादविनाशधर्मक। उत्पत्ति, विनाश के विना विकार बनता नहीं। इस नय से, वर्ण यदि विकृत होते हैं तो उनमें नित्यत्व कहाँ रहा! यदि नित्य है तो इनमें विकारधर्म कैसे रहेगा! अतः आपका यह 'धर्मविकल्प' हेतु हेत्वाभास है ॥ ५३ ॥

शङ्का—अनित्य मानने पर तो उनमें विकारधर्म बन जायगा—

वर्णों में अनवस्थायित्यव (स्वल्पकालस्थायित्व) होने पर भी उनकी उपलब्धि की तरह उनमें विकार भी बन जायगा? ॥ ५४ ॥

जैसे स्वल्पकालस्थायी वर्णों का श्रवण उपपन्न होता है, उसी तरह उनकी अस्थायिता में उनका विकार भी सम्भव है?

उत्तर—जब प्रकृतिशब्द (इकार) के साथ विकृतिशब्द (यकार) से असम्बद्ध रहने पर वर्णोपलब्धि अर्थप्रतिपादन में असमर्थ है तो विकार से सम्बन्ध न होने से उसका ज्ञान कराने में असमर्थ ही रहेगी। उसमें ऐसी शक्ति कहाँ से आ जायेगी कि वह गृहीत होती हुई वर्णविकार का अनुमान करा सके! वर्णोपलब्धि वर्णवृत्ति में वर्णान्तरप्रयोग की निवर्त्तिका नहीं है। गन्ध गुणवाली पृथ्वी जैसे शब्द सुख आदि गुणवती होती है, वैसा ही यहाँ समझना होगा। यह जो इकारनिवृत्ति होने पर यकार का प्रयोग है, यदि यह यकार वर्णोपलब्धि से निवृत्त हो जाता हो 'वहाँ सुनायी देता हुआ इकार यकारत्व को प्राप्त होता है' ऐसा परीक्षकों द्वारा समझा जाता। ऐसा नहीं होता, अतः मान लेना चाहिये कि वर्णोपलब्धि (उपलभ्यमान इकार) वर्णविकार (यकार) का हेतु नहीं है ॥ ५४ ॥

विकारी मानने पर, उसमें नित्यत्व न रहने से तथा कालान्तर में विकारोपपत्ति होने से प्रतिषेध नहीं बनेगा ॥ ५५ ॥

'तद्धर्मविकल्प' हेतु से प्रतिषेध उचित नहीं, क्योंकि कोई विकारी नित्य नहीं होता; अतः

---

१. 'अर्थप्रतिपादने' इति पाठस्तात्पर्यसम्मतः।

मुपलभ्यत इति वर्णोपलब्धिवदिति न युक्तः प्रतिषेधः। अवग्रहे हि दधि अत्रेति प्रयुज्य चिरं स्थित्वा ततः संहितायां प्रयुङ्क्ते-दध्यत्रेति। चिरनिवृत्ते चायमिवर्णे यकारः प्रयुज्यमानः कस्य विकार इति प्रतीयते! कारणाभावात् कार्याभाव इति अनुयोगः प्रसज्यत इति ॥ ५५ ॥

५. इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः—

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम्[१] ॥ ५६ ॥

इकारस्थाने यकारः श्रूयते, यकारस्थाने खल्विकारो विधीयते-विध्यति इति। तद्यदि स्यात् प्रकृतिविकारभावो वर्णानाम्, तस्य प्रकृतिनियमः स्यात्। दृष्टो विकारधर्मित्वे प्रकृतिनियम इति ॥ ५६ ॥

अनियमे नियमान्नानियमः ? ॥ ५७ ॥

योऽयं प्रकृतेरनियम उक्तः स नियतो यथाविषयं व्यवस्थितो नियतत्वान्नियम इति भवति, एवं सत्यनियमो नास्ति। तत्र यदुक्तम्—'प्रकृत्यनियमात्' इति, एतदयुक्तमिति ? ॥ ५७ ॥

नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ॥ ५८ ॥

नियम इत्यत्रार्थाभ्यनुज्ञा, अनियम इति तस्य प्रतिषेधः। अनुज्ञातनिषिद्धयोश्च व्याघातादनर्थान्तरत्वं न भवति। अनियमश्च नियतत्वान्नियमो न भवतीति नात्रार्थस्य तथाभावः

'वर्णोपलब्धि की तरह'—ऐसा कह कर प्रतिषेध करना उचित नहीं। असंहिता में 'दधि+अत्र' ऐसा प्रयोग कर, बहुत देर तक ठहरने के बाद पुनः संहिता में 'दध्यत्र' का प्रयोग करता है। इवर्ण के चिरनिवृत्त होने पर प्रयुज्यमान यकार किसका विकार प्रतीत होगा! कारणाभाव से कार्याभाव है—ऐसा अनुयोग आपके हेतु हेत्वाभास ही है ॥ ५५ ॥

५. इस कारण भी वर्णविकार का उपपादन नहीं होगा—

(वर्णविकारों का) प्रकृतिनियम न होने से ॥ ५६ ॥

इकार के स्थान में जो यकार श्रुत होता है, जैसे—'विध्यति', यहाँ यकार के स्थान में इकार का विधान उपलब्ध है। यदि वर्णों का प्रकृतिविकृतिभाव होता तो प्रकृतिनियम बन सकता था; क्योंकि लोक में विकारी पदार्थों का प्रकृतिनियम देखा जाता है ॥ ५६ ॥

छलवादी की शङ्का—

यह अनियम में नियम होने से अनियम नहीं, (नियम ही है) ॥ ५७ ॥

आप ने यह जो वर्णों के विषय में प्रकृति का अनियम सिद्ध किया वह अपने विषय के लिये व्यवस्थित होने के कारण 'नियम' ही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर अनियम कहाँ रहा! अतः आप ने अभी जो 'प्रकृत्यनियम' हेतु दिया था, वह अनुपपन्न है ॥ ५७ ॥

उत्तर—

नियम 'अनियम'—दोनों का शाश्वतिक विरोध होने से, अनियम में नियम बताने से प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ५८ ॥

'नियम' इस शब्द से तदर्थ की स्वीकृति है, 'अनियम' इस शब्द से तदर्थ का प्रतिषेध है। स्वीकृति तथा निषेध परस्पर विरुद्ध है, अतः ये पर्याय नहीं बन सकते। तथा 'अनियम' के नियमतः

---

१. 'वर्णविकाराणाम्' इत्यधिकः पाठः क्वचिन्नास्ति।

प्रतिषिध्यते, किं तर्हि ? तथाभूतस्यार्थस्य नियमशब्देनाभिधीयमानस्य नियतत्वान्नियमशब्द एवोपपद्यते। सोऽयं नियमादनियमे प्रतिषेधो न भवतीति ॥ ५८ ॥

६. न चेयं वर्णविकारोपपत्तिः परिणामात्, कार्यकारणभावाद्वा; किं तर्हि ?

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ ५९ ॥

स्थान्यादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकारशब्दार्थः, स भिद्यते। **गुणान्तरापत्तिः**-उदात्तस्यानुदात्त इत्येवमादिः। **उपमर्दो** नाम एकरूपनिवृत्तौ रूपान्तरोपजनः। **ह्रासः**=दीर्घस्य ह्रस्वः। **वृद्धिः**=ह्रस्वस्य दीर्घः, तयोर्वा प्लुतः। **लेशः**=लाघवम्, स्त इत्यस्तेर्विकारः। **श्लेषः**=आगमः, प्रकृतेः प्रत्ययस्य वा। एत एव विशेषा विकारा इति एत एवादेशाः। एते चेद्विकाराः उपपद्यन्ते तर्हि वर्णविकारा इति ॥ ५९ ॥

शब्दशक्तिपरीक्षाप्रकरणम् [६०-७१]

पद-अर्थनिरूपणम्

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ६० ॥

यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति। विभक्तीर्द्वयी—नामिकी, आख्यातिकी च। ब्राह्मणः, पचतीत्युदाहरणम्।

रहने से 'अनियम नियम नहीं है'—ऐसा प्रतिषेध नहीं किया गया है; किन्तु 'यही नियम है'—ऐसा ही भाव समझना चाहिये। इस प्रकार, छलवादी का नियम से अनियम में प्रतिषेध नहीं बनेगा ॥ ५८ ॥

६. हमारा यह वर्णविकारोपपादन परिणाम या कार्यकारणसम्बन्ध से नहीं, अपितु—

गुणान्तरापादन; उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश, श्लेष—इनसे विकारोपपादन होने से वर्णविकार हैं ॥ ५९ ॥

'विकार' से हमारा तात्पर्य है—स्थान्यादेशभाव होने से स्थानी अक्षर का प्रयोग न कर आदेश का प्रयोग करना। उसके भेद हैं—

१. **गुणान्तरापत्ति**, जैसे—उदात्त स्वर का अनुदात्तविधान। २. **उपमर्द** से तात्पर्य है—एक रूप की निवृत्ति होने पर रूपान्तर का उत्पाद। ३. **ह्रास**, जैसे—दीर्घ का ह्रस्वविधान। ४. **वृद्धि**, जैसे—ह्रस्व का दीर्घ या ह्रस्व-दीर्घ का प्लुतविधान। ५. लेश का अर्थ है—लाघव=अल्पीभाव, जैसे 'अस्ति' का द्विवचन 'स्तः', यहाँ 'अ' का लोप करके लाघव किया गया। ६. **श्लेष**, अर्थात् प्रकृति या प्रत्यय का आगम। इतने ही विशेष विकार हैं, अतः इतने ही आदेश हैं। यदि वर्ण में ये उपर्युक्त आदेश विकार कहे गये हैं तो हम भी उसे वर्णविकार मान लेंगे। इस स्थिति में हमारा आप से कोई विरोध नहीं ॥ ५९ ॥

[इस प्रकार, वर्णों की अनित्यता का प्रतिपादन कर, अब **शब्दप्रामाण्योपयोगी 'पद' का निरूपण** कर रहे हैं—]

वे वर्ण यदि विभक्त्यन्त हों तो 'पद' कहलाते हैं ॥ ६० ॥

स्वदर्शनोक्त (पा०सू० २.२.५९) प्रमाणानुसार विकृत वर्ण विभक्त्यन्त होने पर 'पद' कहलाते हैं। विभक्ति दो प्रकार की होती है—१. नामिकी (प्रातिपदिकसम्बन्धिनी), २. आख्यातिकी (धातुसम्बन्धिनी)। नामिकी विभक्ति का उदाहरण है—'ब्राह्मणः'। आख्यातिकी का उदाहरण है—'पचति'।

उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसंज्ञा, लक्षणान्तरं वाच्यमिति? शिष्यते च खलु नामिक्या विभक्तेरव्ययाल्लोपः, तयोः पदसंज्ञार्थमिति। पदेनार्थसम्प्रत्यय इति प्रयोजनम्॥ ६०॥

नामपदं चाधिकृत्य परीक्षा, गौरिति पदं खल्विदमुदाहरणम्, तदर्थे—

व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात् संशयः॥ ६१॥

अविनाभाववृत्तिः=सन्निधिः। अविनाभावेन वर्तमानासु व्यक्त्याकृतिजातिषु गौरिति प्रयुज्यते, तत्र न ज्ञायते—किमन्यतमः पदार्थः? उत सर्व इति॥ ६१॥

व्यक्तिवादः

शब्दस्य प्रयोगसामर्थ्यात् पदार्थावधारणम्, तस्मात्—

या शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसङ्ख्यावृद्ध्युपचयवर्णसमासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः?॥ ६२॥

व्यक्तिः पदार्थः, कस्मात्? याशब्दप्रभृतीनां व्यक्तावुपचारात्। उपचारः=प्रयोगः।

या गौस्तिष्ठति, या गौर्निषण्णेति नेदं वाक्यं जातेरभिधायकम्; अभेदात्। भेदात्तु द्रव्याभिधायकम्। गवां समूह इति भेदाद् द्रव्याभिधानम्, न जातेः; अभेदात्। चैद्याय गां ददातीति द्रव्यस्य त्यागः, न जातेः; अमूर्त्तत्वात्, प्रतिक्रमानुक्रमानुपपत्तेश्च। परिग्रहः—स्वत्वे-

---

तब तो उपसर्ग, निपात शब्दों की पदसंज्ञा नहीं हो पायगी, अतः 'पद' का लक्षणान्तर कीजिये? इसी लक्षण से ये भी 'पद' कहला सकते हैं; क्योंकि इनमें नामिकी विभक्ति का शास्त्र में अव्ययप्रयुक्त लोपविधान है। यह पदसंज्ञा इसलिये की जाती है कि पद से अर्थसम्प्रत्यय हो जाय॥ ६०॥

[प्रकृत्यर्थ भी नाम (प्रातिपदिक) से ही व्यवहृत होते हैं, अतः नाम के प्रधान होने से उसकी परीक्षा से प्रत्ययों की परीक्षा भी हो जायगी—यों] **नामपदों** को लेकर **परीक्षा** प्रारम्भ की जा रही है। 'गौ' यह पद उदाहरण है; उसके अर्थ में—

व्यक्ति, आकृति तथा जाति—तीनों की सन्निधि में उपचार होने से संशय होता है॥ ६१॥

अविनाभाव से रहना 'सन्निधि' कहलाता है अविनाभाव से रहनेवालों में व्यक्ति, आकृति, जाति—इन तीनों में 'गौ' यह प्रयोग होता है। यहाँ ज्ञात नहीं होता कि 'गो' पद का अर्थ व्यक्ति है, आकृति है, या जाति है, या तीनों मिलकर हैं?॥ ६१॥

शङ्का—शब्द के प्रयोगसामर्थ्य से पदार्थ का निश्चय होता है, इसलिये—

'या' शब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, सङ्ख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास तथा अनुबन्ध—इनका व्यक्ति में ही प्रयोग होने से व्यक्ति को 'गो' पदार्थ मान लें?॥ ६२॥

व्यक्ति ही पदार्थ है; क्योंकि 'या' (यत्) शब्द आदि का व्यक्ति में ही प्रयोग होता है। सूत्रस्थ 'उपचार' का अर्थ है—प्रयोग।

'जो गौ बैठी है', 'जो गौ खड़ी है' यह वाक्य अभेद सम्बन्ध से जाति का अभिधायक नहीं हो सकता, अपितु भेद-वाक्य द्रव्याभिधायक होता है, जैसे—'गौओं का समूह'। यह भेद से अनेक व्यक्तिरूप द्रव्य **समूह** का अभिधायक हैं, जाति का नहीं; क्योंकि जाति का अभेद है। 'चैद्य को गौ देता है' यहाँ द्रव्य का त्याग है, न कि जाति का; क्योंकि जाति तो अमूर्त होती है, उसका **त्याग** कैसे बनेगा! अथ च, प्रतिक्रम (विश्लेष) अनुक्रम (संश्लेष) अर्थात् विभाग-संयोग भी जाति में नहीं

नाभिसम्बन्धः, कौण्डिन्यस्य गौर्ब्राह्मणस्य गौरिति, द्रव्याभिधाने द्रव्यभेदात् सम्बन्धभेद इति उपपन्नम्, अभिन्ना तु जातिरिति। सङ्ख्या—दश गावो विंशतिर्गाव इति भिन्नं द्रव्यं सङ्ख्यायते, न जातिः, अभेदादिति। वृद्धिः—कारणवतो द्रव्यस्यावयवोपचयः, अवर्द्धत गौरिति। निरवयवा तु जातिरिति। एतेनापचयो व्याख्यातः। वर्णः—शुक्ला गौः, कपिला गौरिति द्रव्यस्य गुणयोगः, न सामान्यस्य। समासः—गोहितम्, गोसुखमिति द्रव्यस्य सुखादियोगः, न जातेरिति। अनुबन्धः-सरूपप्रजननसन्तानः, गौर्गां जनयतीति तदुत्पत्तिधर्मत्वाद् द्रव्ये युक्तं न जातौ, विपर्ययादिति। द्रव्यं व्यक्तिरिति हि नार्थान्तरम्?॥ ६२॥

अस्य प्रतिषेधः—

न; तदवनस्थानात्॥ ६३॥

न व्यक्तिः पदार्थः। कस्मात्? अनवस्थानात्। 'या' शब्दप्रभृतिभिर्यो विशेष्यते स गोशब्दार्थः। 'या गौस्तिष्ठति', 'या गौर्निषण्णा' इति, न द्रव्यमात्रमविशिष्टं जात्या विनाऽभिधीयते। किं तर्हि? जातिविशिष्टम्। तस्मान्न व्यक्तिः पदार्थः। एवं समूहादिषु द्रष्टव्यम्॥ ६३॥

यदि न व्यक्तिः पदार्थः, कथं तर्हि व्यक्तावुपचार इति? निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारः। दृश्यते खलु—

रहते, अतः उक्त वाक्य में द्रव्य का ही त्याग मानना उचित है। **परिग्रह** कहते हैं—स्वत्व द्वारा अभिसम्बन्ध (स्वामिभाव) को। जैसे—'कौण्डिन्य की गौ' 'ब्राह्मण की गौ'। द्रव्याभिधान में ही द्रव्यभेद से यह सम्बन्धभेद बन सकता है; क्योंकि जाति तो अभिन्न होती है, वह सम्बन्धभेदक कैसे होगी! **सङ्ख्या**—'दश गौ' 'बीस गौ'—यह संख्याभिधान भी द्रव्याभिधान में बन सकता है, क्योंकि भिन्न द्रव्य ही गिना जा सकता है; जाति तो अभिन्न होने से गिनी नहीं जा सकती। **वृद्धि**—कारणवान् द्रव्य का अवयवोपचय हो सकता है, जैसे—गौ बढ़ गयी। जाति निरवयव होने से कैसे बढ़ेगी! इसी तरह **अपचय** (ह्रास) का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिये। **वर्ण**—'शुक्ला गौ' 'कपिला गौ' यह वर्णाभिधान भी वाक्य को द्रव्यपरक मानने पर ही बनता है; क्योंकि शुक्लत्वादि गुण जाति का कैसे बनेगा! **समास** भी व्यक्त्यभिधान में उपपन्न होता है। जैसे—'गौ का हित' 'गौ का सुख'। ये हित, सुख आदि में जाति नहीं रहते। **अनुबन्ध** से तात्पर्य है—सरूपप्रजननसमूह। जैसे—'गौ गौ (बछड़ी) पैदा करती है', यहाँ द्रव्य में ही उत्पादन उचित ठहरता है; जाति में तो इसके विपरीत (अनुत्पाद) देखा जाता है। द्रव्य से हमारा तात्पर्य व्यक्ति से है। तो व्यक्ति को गोपदार्थ मान लें?॥ ६२॥

इसका **खण्डन**—

व्यक्ति पदार्थ नहीं है; अनवस्था होने से॥ ६३॥

व्यक्ति पदार्थ नहीं है; क्यों? अनुगमन होने से। 'या' शब्द आदि से जो यद्धर्मविशिष्ट विशेषित किया जाता है, वह तद्धर्मविशिष्ट गो-शब्दार्थ है। 'जो गौ बैठी है', 'जो गौ खड़ी है'—इस वाक्य में विना किसी विशेषण के, द्रव्य स्वरूपतः जातिरहित नहीं कहा जाता; अपितु जातिविशिष्ट द्रव्य कहा जाता है। इसलिये 'व्यक्ति' स्वरूपतः पदार्थ नहीं है। इसी नय से पूर्वसूत्रोक्त समूहादिक के भी व्यक्तिपरक व्याख्यान का खण्डन समझ लेना चाहिये॥ ६३॥

यदि व्यक्ति पदार्थ नहीं है तो उसका उपचार (लक्षणा) प्रयोग कैसे देखा जाता है? प्रयोजनवशात् अतद्भाव में भी तत्प्रयोग देखा जाता है। जैसे—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्च-कटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ६४ ॥

अतद्भावेऽपि तदुपचार इति-अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति।

सहचरणात्-'यष्टिकां भोजय' इति यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयते इति। **स्थानात्**-मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चस्थाः पुरुषा अभिधीयन्ते। **तादर्थ्यात्**-कटार्थेषु वीरणेषु व्यूह्यमानेषु कटं करोतीति भवति। **वृत्ताद्**-यमो राजा, कुबेरो राजेति तद्वद् वर्त्तते इति। **मानाद्**-आढकेन मिताः सक्तवः आढकसक्तव इति। **धारणात्**-तुलायां धृतं चन्दनं तुलाचन्दनमिति। **सामीप्याद्**-गङ्गायां गावश्चरन्तीति देशोऽभिधीयते सन्निकृष्टः। **योगात्**-कृष्णेन रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इत्यभिधीयते। **साधनात्**-'अन्नं प्राणाः' इति। **आधिपत्यात्**-'अयं पुरुषः कुलम्', 'अयं गोत्रम्' इति।

तत्रायं सहचरणाद्योगाद् वा जातिशब्दो व्यक्तौ प्रयुज्यत इति ॥ ६४ ॥

आकृतिवादः

यदि गौरित्यस्य पदस्य न व्यक्तिरर्थः, अस्तु तर्हि—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ? ॥ ६५ ॥

आकृतिः पदार्थः। कस्मात्? तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः। सत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियतो व्यूहः=आकृतिः, तस्यां गृह्यमाणायां सत्त्वव्यवस्थानं सिध्यति-अयं

सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन, आधिपत्य—इन कारणों से ब्राह्मण, मञ्च, कट, राज, सत्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न, पुरुष—इनका अतद्भाव में भी तदुपचार होता है ॥ ६४ ॥

'अतद्भाव में तदुपचार' से तात्पर्य है—'उस शब्द के न होने पर भी उस शब्द का प्रयोग'। जैसे—'यष्टिका को खिलाओ' इस वाक्य में 'ब्राह्मण' शब्द के न रहने पर भी यष्टिका के **सहचार** से 'यष्टिकाधारी ब्राह्मण को खिलाओ'—यों ब्राह्मण में यष्टि का उपचार लोक में देखा जाता है। इसी तरह, **स्थान** हेतु से—'मञ्च चिल्ला रहे हैं' इस वाक्य में मञ्चस्थ पुरुष का कथन है। **तादर्थ्य** हेतु से—चटाई के लिये तृणविशेष को वयन करने वाले पुरुष के लिये भी 'चटाई बना रहा है'—यह प्रयोग होता है। **वृत्त** हेतु से—'यह राजा यम है' (क्रूर वर्ताव करने से), या 'यह राजा कुबेर है' (दान करने से)—यह प्रयोग होता है। **मान** हेतु से भी—आढक परिमाण से तोले हुए सत्तु को लोक में 'आढक सत्तु' भी कह देते हैं। **धारण** हेतु से—तुला में रखा हुआ चन्दन 'तुलाचन्दन' कहलाने लगता है। **सामीप्य** हेतु से—लोक में, गङ्गा के समीपवर्ती देश को लेकर 'गङ्गा में गायें चर रही हैं'—ऐसा बोल देते हैं। **योग** हेतु से—काले रंग में रंगी हुई साड़ी 'काली साड़ी' कहलाती है। **साधन** हेतु से—अन्न प्राण के साधन होने के कारण 'अन्न प्राण है' ऐसा कह देते हैं। **आधिपत्य** हेतु से—किसी विशिष्ट प्रभाव वाले पुरुष को लेकर 'यही कुल है' 'यही गोत्र है'—ऐसा लोक में प्रयोग देखा जाता है।

यहाँ सहचार या अन्य सम्बन्धों से यह जातिशब्द व्यक्ति में प्रयुक्त होता है ॥ ६४ ॥

यदि 'गौ' इस शब्द का व्यक्ति अर्थ नहीं मानते हो तो—

सत्त्वव्यवस्थान की सिद्धि की आकृत्यपेक्षता होने से आकृति अर्थ मान लें ? ॥ ६५ ॥

आकृति पदार्थ है; क्योंकि सत्त्वव्यवस्थासिद्धि आकृत्यपेक्षित है। प्राणी आदि द्रव्य के

गौरयमश्च इति, नागृह्यमाणायाम्। यस्य ग्रहणात् सत्त्वव्यवस्थानं सिध्यति तं शब्दोऽभिधातुमर्हति, सोऽस्यार्थ इति।

नैतदुपपद्यते; यस्य जात्या योगस्तत्र जातिविशिष्टमभिधीयते-गौरिति। न चावयवव्यूहस्य जात्या योगः, कस्य तर्हि? नियतावयवव्यूहस्य द्रव्यस्य। तस्मान्नाकृतिः पदार्थः ॥ ६५ ॥

जातिवादः

अस्तु तर्हि जातिः पदार्थः—

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ? ॥ ६६ ॥

जातिः पदार्थः। कस्मात्? व्यक्त्याकृतियुक्तेऽपि मृद्गवके प्रोक्षणादीनामप्रसङ्गादिति। गां प्रोक्षय, गामानय, गां देहीति नैतानि मृद्गवके प्रयुज्यन्ते। कस्मात्? जातेरभावात्। अस्ति हि तत्र व्यक्तिः, अस्त्याकृतिः, यदभावात् तत्रासम्प्रत्ययः स पदार्थ इति ? ॥ ६६ ॥

न; आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ ६७ ॥

जातेरभिव्यक्तिराकृतिव्यक्ती अपेक्षते, नागृह्यमाणायामाकृतौ व्यक्तौ च जातिमात्रं शुद्धं गृह्येत, तस्मान्न जातिः पदार्थ इति ? ॥ ६७ ॥

सिद्धान्तवादः

न वै पदार्थेन न भवितुं शक्यम्, कः खल्विदानीं पदार्थ इति ?

अवयवों या उन के अवयवों का नियत रूपों में जो सन्निवेश होता है वह 'आकृति' कहलाता है। उस आकृति के गृहीत होने पर 'यह गौ है', 'यह अश्व है'—ऐसी सत्त्वव्यवस्था उपपन्न हो सकती है; आकृति के अगृहीत होते हुए उक्त व्यवस्था उपपन्न नहीं हो सकती। जिसके ग्रहण से उक्त सत्त्वव्यवस्थान सिद्ध होता हो, उसी को शब्द कहें—यही उचित है। वही उसका अर्थ है। अतः आकृति को पदार्थ मान लें ?

आपका यह मतस्थापन उचित नहीं; क्योंकि जिसका जाति से सम्बन्ध है वही यहाँ जातिविशिष्ट होकर अभिहित किया जाता है; जैसे—'गौ'। अवयवव्यूहात्मक आकृति का जाति से योग नहीं होता; अपितु नियतावयवव्यूह द्रव्य का योग बनता है। अतः आकृति पदार्थ नहीं है—यह सिद्ध हो गया ॥ ६५ ॥

तो जाति को ही पदार्थ मान लें—

गौ की मिट्टी की मूर्ति में व्यक्ति तथा आकृति होते हुए भी प्रोक्षण (बलि) आदि की प्रसक्ति न होने से जाति ही पदार्थ है ? ॥ ६६ ॥

जाति पदार्थ है; क्योंकि व्यक्त्याकृतियुक्त होने पर भी मृत्तिका-मूर्ति में प्रोक्षण आनयनादि की प्रसक्ति नहीं होती। 'गौ का प्रोक्षण करो', 'गौ लाओ', 'गौ दो'—ये व्यवहार मिट्टी की मूर्ति में नहीं बनते, क्योंकि वहाँ जाति नहीं है; यद्यपि वहाँ व्यक्ति भी है, आकृति भी है। जिसके अभाव से वहाँ उपर्युक्त ज्ञान नहीं हो पाता, वही पदार्थ हैं ? ॥ ६६ ॥

नहीं; आकृति तथा व्यक्ति की अपेक्षा लेकर जाति के सिद्ध होने से ॥ ६७ ॥

जाति की अभिव्यक्ति भी व्यक्ति तथा आकृति की अपेक्षा रखती है। आकृति तथा व्यक्ति के गृहीत हुए विना जाति एकाकी गृहीत नहीं हो पाती; अतः जाति पदार्थ नहीं है ॥ ६७ ॥

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६८ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिष्यते? प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वमिति। यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च, तदा व्यक्तिः प्रधानम्, अङ्गं तु जात्याकृती। यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिश्च, तदा जातिः प्रधानम्, अङ्गं तु व्यक्त्याकृती। तदेतद् बहुलं प्रयोगेषु। आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्प्रेक्षितव्यः[1] ॥ ६८ ॥

कथं पुनर्ज्ञायते-नाना व्यक्त्याकृतिजातय इति? लक्षणभेदात्। तत्र तावत्-

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ॥ ६९ ॥

व्यज्यत इति व्यक्तिरिन्द्रियग्राह्येति, न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिः। यो गुणविशेषाणां स्पर्शान्तानां गुरुत्वघनत्वसंस्काराणामव्यापिनः परिमाणस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यं मूर्तिः, मूर्च्छितावयवत्वादिति ॥ ६९ ॥

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ७० ॥

यया जातिर्जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात्। सा च नान्या सत्त्वावयवानां तदवयवनां च नियताद् व्यूहादिति। नियतावयवव्यूहाः खलु सत्त्वावयवा जातिलिङ्गम्, शिरसा पादेन गामनुमिन्वन्ति। नियते च सत्त्वावयवानां व्यूहे सति गोत्वं प्रख्यायत इति। अनाकृतिव्यङ्ग्यायां जातौ मृत्, सुवर्णम्, रजतम्-इत्येवमादिष्वाकृतिर्निवर्तते, जहाति पदार्थत्वमिति ॥ ७० ॥

सिद्धान्तपक्ष—तीनों के न मानने से तो पदार्थ ही न बनेगा; अब किसको पदार्थ कहें?—

व्यक्ति, आकृति, जाति मिलकर पदार्थ हैं ॥ ६८ ॥

सूत्र में 'तु' शब्द तीनों की विशिष्टता के बोध के लिये है। क्या विशेष बोध होता है? इन तीनों में प्रधान-गुणभाव के अनियम से पदार्थत्व रहता है। जब पदार्थ में भेदविवक्षा तथा विशेष ज्ञान कराना हो तो वहाँ व्यक्ति प्रधान है; जाति, आकृति गौण रहेंगीं। जब पदार्थ में भेद अविवक्षित हो, सामान्य ज्ञान कराना हो तब जाति प्रधान होगी; और व्यक्ति, आकृति गौण रहेंगीं। लोक में प्राय: जाति एवं व्यक्ति में प्रयोग देखा जाता है। आकृति-प्राधान्य के उदाहरण (मृद्रवकादि) की भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिये ॥ ६८ ॥

यह कैसे ज्ञात होता है व्यक्ति, आकृति, जाति भिन्न-भिन्न है? लक्षणभेद से ज्ञात हो जाता है। उन लक्षणों में—

गुणविशेषाश्रित द्रव्य 'व्यक्ति' कहलाता है ॥ ६९ ॥

जो व्यक्त होता हो, अर्थात् इन्द्रियग्राह्य हो वही 'व्यक्ति' कहलाता है, न कि समग्र द्रव्य। जो स्पर्शान्त गुणविशेषों तथा गुरुत्व, घनत्व, द्रवत्व संस्कारों एवं अव्यापि परिमाण का यथासम्भव आश्रय हो, वह द्रव्य मूर्ति कहलाता है; क्योंकि उसके अवयव परस्पर संयुक्त है ॥ ६९ ॥

जिससे जाति, तथा उसके लिङ्ग प्रख्यात हो वह 'आकृति' है ॥ ७० ॥

जिससे जाति, तथा जाति के चिह्न ज्ञात हों उसे 'आकृति' समझना चाहिये। वह आकृति सत्त्वावयव (शिरःपादादि) तथा तदवयवों (मुखखुरादि) के नियत व्यूह से ही जानी जाती है। सत्त्व के अवयव नियतावयवव्यूह होने से जाति के ज्ञापक हैं। शिर और पैर से गौ का अनुमान करते हैं,

१. अस्मिन् सूत्रार्थे वार्त्तिककारस्यात्मविवार्त्तिक एव द्रष्टव्या।

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ७१ ॥

या समानां बुद्धिं प्रसूते, भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते। योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्। यच्च केषाञ्चिदभेदं कुतश्चिद् भेदं करोतीति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति ॥ ७१ ॥

॥ इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः ॥

प्राण्यङ्गों की आकृति के नियत होने पर गोत्व जाति का ज्ञान होता है। अनाकृतिव्यङ्ग्य मिट्टी, सोना, चाँदी आदि जातिद्रव्यों में आकृति निवृत्त हो जाती है, वह पदार्थत्व को छोड़ देती है ॥ ७० ॥

जाति विभिन्न आश्रयों में समान बुद्धि पैदा करनेवाली होती है ॥ ७१ ॥

जो भिन्न अधिकरणों में समान बुद्धि पैदा करे, वह 'जाति' कहलाती है। जहाँ बहुत से एक दूसरे से व्यावृत्त न होते हों। जो अर्थ अनेक स्थानों में ज्ञानानुवर्तन (प्रतीति की अनुवृत्ति कराने का) निमित्त हो वह 'जाति' कहलाता है। तथा जो किन्ही पदार्थों की प्रतीति कर उन्हीं का कहीं से भेद (व्यावृत्ति) करे वह 'जातिविशेष' कहलाता है ॥ ७१ ॥

वात्स्यायनीय न्यायभाष्य(सहित न्यायदर्शन)में द्वितीय अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥